वर्ष 7, अंक 2 जुलाई 1991

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण
रा. प्र. पांडेय, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

संपादन–सहयोगी

१. प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पांडे, ११, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद-२११००२

२. प्रोफेसर दयाकृष्ण, आर. ६, राजस्थान विश्वविद्यालय परिसर, जयपुर-४

३. प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रायपुर विश्वविद्यालय, रायपुर

४. डा. रमेशचन्द्र शाह, एफ ३/२, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल-४६२००२

५. अशोक वाजपेयी, सी २/४३, शाहजहां रोड, नई दिल्ली-११००११

संपादक

१. यशदेव शल्य, पी. ५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-३०२०१५

२. डा. मुकुन्द लाठ, ए. ३७/३८, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-३०२००६

आशिष नंदी और उनका आत्मीय शत्रु

रमेशचन्द्र शाह

इसाक दिनेसन (कैरन ब्लिक्सन) की एक कहानी कभी पढ़ी थी–'टेल्स आव टू जैन्टलमैन'। उसके एक पात्र या स्वयं कहानी के सूत्रधार द्वारा कही गई बात कहीं मन में गड़ी रह गई, जो पता नहीं क्यों, आशिष नंदी को पढ़ते हुए अचानक याद आ गई : "हम हताश इसलिए होते हैं"–कहानी कहती है–"कि हमें दुनिया, जैसी है बेढंगी और वाहियात, उसका तनिक भी ताल-मेल, ईश्वर की हमारी जैसी परि-कल्पना है, उसके साथ नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु यह आखिर क्यों ज़रूरी है कि हम ईश्वर की ऐसी मर्दानी छवि ही गढ़ें ? क्यों नहीं हम इस सृष्टि को सिरजने और पालने वाली शक्ति को एक स्त्री के रूप में देख सकते ? ऐसा अगर हम कर सकें तो शायद ब्रह्माण्ड के नियम भी हम ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे।"

आशिष नंदी को उस तरह ब्रह्माण्ड के नियम समझने की तो नहीं परन्तु मानवीय सभ्यता और संस्कृति के नियम समझने की चिन्ता ज़रूर सताती है। पॉल वालेरी ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में विस्मय प्रकट किया था कि यह पिद्दी सा यूरोप समूची पृथ्वी को कैसे चांपे बैठा है! श्री अरविन्द ने भी यूरोपीय मनोवृत्ति के अनुचित आधिपत्य से उपजे असंतुलन को ठीक करने की ज़रूरत रेखांकित की थी। अब आज शताब्दी के अवसान पर वह चित्र काफी बदल गया लगता है, पर केवल इस अर्थ में कि साम्राज्यवादी पुरुषार्थ ने जिस विश्व-एकता का स्वप्न देखा था वह दुःस्वप्न में परिणत हो गया है और अनाधुनिक संस्कृतियों पर हुआ आक्रमण उनके मूलोच्छेद की नौबत ले आया प्रतीत होता है। पर एक नए प्रकार की जागरूकता भी संकट के इसी चरम कोण पर झलकने लगी है। आशिष नंदी की यह पुस्तक (**'दि इंटीमेट एनेमी : लौस ऐण्ड रिकवरी आव सेल्फ अण्डर कोलोनाइज़ेशन'**) आक्रामक उपनिवेशवाद के मूल में अन्तर्निहित मर्दानगी के पूर्वग्रह को रेखांकित करते हुए, भारत सरीखे आक्रान्त समाजों के अपेक्षाकृत अधिक संतुलित आत्म-बिम्ब को भी अपनी लपेट में लेने वाले उसके ऐतिहासिक कुचक्र को उघाड़ते हुए, इसी नई जागरूकता का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

अपनी पुस्तक का आरम्भ आशिष नंदी ने कामू के इस उद्धरण से किया है : "हमारे समय की विचित्रता यह है कि निर्दोषता को ही अपना औचित्य प्रमाणित करने के लिए कहा जाता है।" उपनिवेशवाद अगर अपना जाल पूरे संसार फैला सका तो अपने कुछ सेकुलर पूर्वग्रहों और उनसे तय होने वाली ऊंच-नीच

की व्यवस्थाओं द्वारा ही। इन्हीं के चलते मनुष्य में छिपी हुई लोभ और हिंस्र आक्रामकता की आदिम वृत्तियों को एक नया आधार मिल गया। नंदी का मानना है कि सेकुलर मुक्ति के मनुष्य-केन्द्रित मतवाद, प्रगति, स्वस्थता और मर्दानगी को अपने निराले ढंग से समझने-समझाने वाली विचारधाराए तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सिद्धान्त, इन सब से कुल मिलाकर आदमी की आदिम लोभवृत्ति और हिंसावृत्ति को ही एक नई वैधता प्राप्त हुई है। इसका मतलब यही हुआ कि औपनिवेशिक समाजों की परम्परागत सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को ही उलट-पुलट देने वाला यह वैचारिक उपनिवेशवाद, जिसने पहले वाले भौगोलिक साम्राज्यवाद को औचित्य प्रदान करने की भूमिका निभाई थी, अब पहले से भी ज़्यादा खतरनाक ढंग से काम कर रहा है, क्योंकि अब वह अपनी साम्राज्यवादी जड़ों से स्वतंत्र हो गया है। भूतपूर्व उपनिवेशों के बुद्धिजीवियों में स्वतंत्र होने का भ्रम रचकर अब वह उन्हें और भी आसानी से अपना शिकार बना सकता है और बना रहा है। किन्तु यदि ऐसा है, और हम सचमुच इस विपर्यय के प्रति जागरूक हो चुके हैं, तो क्या हम समय रहते इस विचार का प्रतिकार नहीं कर सकते ? नंदी निराश नहीं हैं और इसलिए उनका कहना है कि, "आखिरकार हम समझ गए हैं कि न तो देकार्त विवेक के लिए अन्तिम प्रमाण है, न मार्क्स आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता के लिए।"

कोई भी सभ्यता आखिर कैसे दूसरी सभ्यता पर अपना दबदबा स्थापित करती है ? उसे अंततः उसी की आंखों में हीनतर साबित करके ही न ? बर्बरों को अपनी लूट-पाट के लिए औचित्य गढ़ने की ज़रूरत न पड़े, किन्तु सभ्यता और संस्कृति का दावा करने वाले और अपने सामाजिक राजनीतिक संगठन की श्रेष्ठता के बल पर अपने धर्म और संस्कृति की भी विश्वविजय का सपना देखने वाले जब दूसरे देशों को अपना उपनिवेश बनाते हैं तब वे क्या करें कि शोषक और लुटेरे जैसे न दीखें, बल्कि उपकारक हितैषी और न्याय-संस्थापक जैसे दीखें ? अपनी नैतिक अपंगता कबूल करके अंग्रेज़ भला कभी भारत जैसे महा देश पर शासन कर सकते थे ? निश्चय ही उन्हें अपने-आपको और अपनी अधीनस्थ प्रजा को भी यह विश्वास दिलाने की जरूरत महसूस हुई होगी कि यह शोषण नहीं, दायित्व है जो उनके अपने उच्चतर राजनीतिक-आर्थिक गतिविधियों के फलस्वरूप उनके सिर पर आ पड़ा है और जिसे निबाहना उनका कर्त्तव्य है। नंदी साम्राज्यवाद की जड़ किसी धार्मिक मतवाद में नहीं देखते, वे उसे पोस्ट-रेनेसांस यूरोप के सेकुलर रूपान्तरण में देखते हैं। वे कहते हैं कि अंग्रेज़ों ने अपने शोषण में भारतीय प्रजा का सहयोग सुनिश्चित करने के लिए एक आइडियालोजी बनाई और ऐसा खेल खेला कि सारे पढ़े-लिखे लोग और बुद्धिजीवी भी उसे स्वीकार करके उन्हीं की शर्तों पर वह खेल स्वेच्छापूर्वक खेलने लगे। इसी खेल को नंदी ने वयस्कता की आइडियालोजी, मर्दानगी की आइडियालोजी

कहा है। उनके कथनानुसार अंग्रेज़ शासकों का सबसे बड़ा डर यही था कि कहीं उनकी शासित प्रजा इस षड्यंत्र को भांप न ले, इस सर्वानुभूति को नष्ट न कर दे, उनके द्वारा आरोपित इस तथाकथित मर्दानगी ग्रौर सयानेपन के मूल्यों की ग्रसलियत उघाड़ कर कहीं वह ग्रपने परंपरागत मूल्य-विवेक के ग्राधार पर जीना न शुरु कर दे।

परन्तु ऐसा नहीं है कि स्वयं उपनिवेशवादियों की ग्रपनी परम्परा भी उन्हें ऐसे कदाचार की निर्बाध ग्रनुमति देती थी। नंदी ने ग्रपनी पुस्तक का नामकरण 'दि इंटीनेट एनेमी' यूं ही नहीं कर दिया है। वे जानते हैं कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर 'दूसरा' भी सौ फीसदी 'दूसरा' नहीं होता. उसमें भी हमारा ग्रंश होता है ग्रौर हममें भी उसकी प्रतिच्छवि ढूँढी जा सकती है। परम्परा भी कोई एक ग्रौर अखंड नहीं होती : मुख्य धारा के साथ एक ग्रन्तर्धारा भी हो सकती है जो प्रच्छन्न रूप से ग्रपना प्रभाव दिखलाती है। उपनिवेशवादियों की पश्चिमी परम्परा में भी मुख्य धारा अगर ग्रागुस्तीन ग्रौर इग्नाशियस लोयोला की है तो एक दूसरी अन्त-र्धारा भी मौजूद रही है, और वह है संत फ्रांसिस की तथा रहस्यदर्शियों की। यह दूसरी बात है कि उपनिवेशवादियों को जो नैतिक समर्थन चाहिए था वह उन्हें पहली वाली धारा से ही मिल सकता था। 'प्रगति' के औपनिवेशिक सिद्धान्त की वैधता वे ग्राख़िर मैस्टर एकर्ट, रस्किन ग्रौर टालस्टाय में तो नहीं पा सकते थे। इस प्रगतिवाद को मार्क्स का क्या योगदान है, इस बारे में भी नंदी किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं छोड़ते। मार्क्स के लिए बाल्यकालीन निर्दोषता का अर्थ था आदिम साम्यवाद का प्रारूप। प्रगति का अर्थ था प्रागितिहास से इतिहास तक का सफर, यानी बचकाने कम्युनिज़्म से सयाने कम्युनिज़्म तक का सफर। भारत मार्क्स के लिए ग्रर्द्ध बर्बर जातियों का देश है, जिसने मानव-मस्तिष्क को ग्रंध-विश्वासों की कठपुतली बनाके रख दिया और जहां किसान सदियों से एक बँधा-सड़ा जीवन जीते रहे। मार्क्स के ही शब्दों में, "इन जातियों में प्रचलित प्रकृति-पूजा की बर्बरता इस पराकाष्ठा तक जा पहुंची कि प्रकृति का मुकुटमणि मनुष्य बन्दर हनुमान ग्रौर गौ-माता के सामने घुटने टेक कर गिड़गिड़ाने लगा।" भारतीय संस्कृति और धर्म-चेतना की ऐसी 'विद्वत्तापूर्ण' समझ स्वभावतः मार्क्स को उसके इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि—"इंग्लैड का चाहे जो अपराध हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वह निमित्त मात्र था—इतिहास का यंत्र मात्र।" नंदी की टिप्पणी : "ऐसे तर्क-विचार का कितना बड़ा योगदान होगा उस नक्सलवादी ग्रहंकार को पुष्ट करने में जो उपनिवेशवाद की मूल प्रेरणा है !"

स्वयं नंदी का तर्क यह है कि बचपन की यह अपव्याख्या ग्रौर ग्रवमूल्यन

आधुनिक यूरोप की ही देन है। सत्रहवीं सदी से पहले यूरोप में भी बचपन ऐसे अनादर और पिछड़ेपन का पर्याय नहीं था। तब वहां भी उसे वयस्क मानव का ही लघु संस्करण माना जाता था। कालान्तर में वह वयस्क का हीनतर और पिछड़ा हुआ रूप माना जाने लगा। नन्दी के कथनानुसार, "आधुनिक यूरोप ने न केवल नारीत्व और बचपन को ही, बल्कि वार्धक्य को भी अवैध और अप्रामाणिक करार दे दिया।" क्या इस तर्क में अतिव्याप्ति-दोष नहीं है? उन्नीसवीं सदी के रोमैण्टिक साहित्य में तथा बीसवीं सदी के यूरोपीय साहित्य में भी बहुत सारा साक्ष्य मिल जाएगा जो इस स्थापना के विरुद्ध जाता है। क्या उसे नकारा जा सकता है? मुझे लगता है, यूरोप की दूसरी परम्परा का इससे कहीं ज़्यादा निर्वचन आवश्यक है जितना नंदी के विवेचन में कामचलाऊ ढंग से उल्लिखित हुआ है। ठीक इसी तरह से, भारत की 'पहली' परम्परा भी महज़ 'सर्वाईवल' से कहीं ज़्यादा विस्तृत और गहरा निर्वचन मांगती है।

उपनिवेशवादियों के लिए अफ्रीका को तो, चलो, जंगली (सैवेज) कहके ख़ारिज करना आसान था। परन्तु भारत? उसके सांस्कृतिक पतन की कोई व्याख्या ढूंढे बिना वे कैसे उस पर हुकूमत करें? यह भी उन्होंने कर दिया। अकारण नहीं था कि भारत के अतीत का उद्धारक मैक्समूलर अपने छात्रों को भारत जाने से रोकता था। व्याख्या यही कि अतीत भारत एक चीज़ है वर्तमान भारत दूसरी चीज़ है, दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों के बीच एक अपाट्य खाई है। व्याख्या यह भी कि आज की इस बदहाली के लिए उपनिवेशकर्त्ता शासक कहीं से भी ज़िम्मेदार नहीं हैं। वे तो, उलटे, तुम्हारा उद्धार करने ही आए हैं। ह्रास के बीज तो तुम्हारी परम्परागत संस्कृति में ही होंगे। जैसे उदाहरण के लिए, तुम्हारी 'पाप' की अवधारणा को ही ले लो। क्या इसमें सचमुच वैसी आचरण-नियामक शक्ति है जैसी कि हमारी "सिन" की अवधारणा में है? नहीं, कतई नहीं। पाप 'सिन' नहीं है और इसलिए यह तुम्हारे ही पाप हैं जिन्होंने तुम्हें इस दुरवस्था तक पहुँचाया है।

आशिष नंदी ने माइकेल मधुसूदनदत्त की 'केस-हिस्ट्री' का हवाला देकर दिखलाया है कि किस तरह जाने-अनजाने इस प्रतिभाशाली कवि ने भी अंग्रेज़ों के ही बिछाए जाल में फंसकर उन्हीं का खेल उन्हीं की शर्तों पर खेलकर जातीय आत्म-धिक्कार का पथ प्रशस्त किया। पौरुष-मद, यानी अति-मर्दानगी, को राक्षसी अवगुण मानकर भारतीय संस्कृति ने उसे रावण का पक्ष निरूपित किया था। माइकेल ने उसी को आदर्श वीरोचित गुण मानकर नायक की तरह अपने महाकाव्य में प्रतिष्ठित किया। परम्परागत सद्‌गुणों के प्रतीक उदार चरित राम माइकेल के लिए एक अधकचरे, लुंजपुंज देवत्व के प्रतीक बन गए: रावण की

तुलना में अत्यन्त हीन कोटि के पुरुषार्थ के प्रतीक । माइकेल के उदाहरण पर ही नहीं ठहर जाते नंदी । बंकिम के 'कृष्ण' को भी वे हिन्दुत्व के ऐसे मॉडल की तरह देखते हैं जिसे बंकिम ने कृष्ण की परम्परागत छवि से अलगाकर एक ऐसे 'नॉर्मल, नान पैगन मेल गॉड' की तरह प्रस्तुत किया जिसके लिए प्रगतिशील पाश्चात्यों के सामने लेजाना नहीं पड़े । नदी का स्पष्ट आरोप है कि इन्होंने भी हिन्दुत्व का ईसाईकरण ही किया । अर्थात् धर्म की जैसी-जो पहचान प्रगति में आगे निकल गए पश्चिम में बनी दीखती है—एक धर्मग्रन्थ, संगठन, गिरजा और प्रचारक उत्साह—कुछ वैसी ही पहचान हिन्दुत्व की भी बंकिम ने की और यह भी बताया कि आधुनिक पश्चिमी मानव के जो गुण हैं वे आर्यगुण ही हैं, जो हममें भी थे और अब भी फिर से विकसित किये जा सकते हैं ।

क्या बंकिम का यह आकलन सही है ? क्या सचमुच भारतीय पुनर्जागरण के पीछे किसी प्रकार का कोई मौलिक अस्मिता-बोध या मौलिक आत्मालोचन नहीं था ? अति-मर्दानगी का प्रतिमान क्या केवल 'पोस्ट रेनेसांस' यूरोप की ही ईजाद है ? ईसाई विश्व-दृष्टि का उसमें कोई हाथ नहीं ? तुर्क और मुगल आक्रान्ता के सामने इस पराजित सभ्यता ने अपने परम्परागत स्वभाव या मूल्यों की रक्षा किस प्रकार की और क्या मोल चुकाकर की ? क्या वह प्रतिक्रिया पर्याप्त थी ? और क्या एक सर्वथा नए और एक दूसरी तरह के सांस्कृतिक आत्मविश्वास से प्रेरित आक्रान्ता के सम्मुख ठीक वही प्रतिक्रिया ठीक उसी ढंग से दुहरायी जा सकती थी ? जिस पश्चिमी बुद्धिवाद और उसकी 'सेकुलर हायरार्कीज़' को नंदी सारी बुराई की जड़ समझते हैं वह क्या स्वयं काफी दूर तक एक विस्तारवादी और सत्ता-लिप्सु धर्मतंत्र की सुदीर्घ ऐतिहासिक जकड़बंदी के प्रति विद्रोह का ही फल नहीं थी ? और क्या इसी कारण उसमें एक मुक्तिदायी ज्ञान के आलोक जैसी प्रतीति नहीं हुई थी ? सैंकड़ों बरसों से मात्र रक्षणशील बने रहकर एक तरह की बौद्धिक घुटन में जी रहे भारतवासियों के लिए, जिनकी धर्मचेतना और धर्मतंत्र उस तरह ज्ञानविरोधी और मतवादी-असहिष्णु भी नहीं थे, क्या आरम्भ में यह सेकुलर ज्ञान का प्रबल आकर्षण स्वाभाविक नहीं था ? यहां तो लौकिक और लोकोत्तर के बीच, धार्मिक और सेकुलर के बीच, उस तरह की विभाजन-रेखा भी कभी नहीं रही । अब तो पश्चिम में धर्मतंत्र से मुक्ति की उस चेष्टा के इतिहास को, इस पूरे सेकुलर दौर को भी, पश्चिमी धर्म चेतना के ही एक अनिवार्य चरण की तरह देखा जाने लगा है और हेगल के 'सेकुलराइजेशन ऑव स्पिरिट' की तर्ज पर उसे 'दि सेकुलर फेज़ ऑव वैस्टर्न रैलीजियोसिटी' के अभिधान से परिभाषित भी किया जाने लगा है । यह सब देखते हुए अपने उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण की खामियों को यूरोपीय पुनर्जागरण की आलो-

चना की शब्दावली में आंकना या मापना क्या पूरी तरह युक्तिसंगत है ? यह प्रश्न भी मन में सहज ही उठता है। यह भी कि एक आक्रान्ता संस्कृति और एक आक्रान्त समाज की जो भीतरी टकराहट होती है उसमें आक्रान्त समाज के लिए अपने स्वाभाविक आत्मविश्वास और स्वाभाविक सृजन-ऊर्जा की पुनरुपलब्धि क्या इतनी सहज-सीधी हो सकती है ? क्या उसमें संतुलन पाने के लिए भटकन और अतियां भी अनिवार्य रूप से नहीं आएंगी ? विशेषकर तब तो और भी जब एक ओर अपने इतिहास-बोध की दुर्बलता का और दूसरी ओर अपनी राजनीतिक वेध्यता का नया-नया जगा अहसास सिर पर चढ़के बोल रहा हो ! यह तो स्वतःसिद्ध है कि भारतीय संस्कृति और धर्म-साधना के विकास की जो समझ श्री अरविन्द के यहां मिलती है उसकी तुलना में स्वामी दयानन्द की व्याख्या सँकरी और एकांगी प्रतीत होती है और यह भी तथ्य है कि भारतीय समाज ने उसे उस तरह स्वीकार भी नहीं किया। किन्तु यदि श्री अरविन्द की आंखों से दयानन्द को देखें तो उनकी भी ऐतिहासिक अनिवार्यता, उनका भी सुस्पष्ट योगदान समझ में आने लगता है। सांस्कृतिक आक्रमण और संकट से जूझने के लिए, आत्म-विस्मृति से उबरने के लिए कोई भी प्रजा उपलब्ध साधनों का ही उपयोग करेगी : देखने की बात यह है कि वह प्रतिरोध, वह लड़ाई भी अपनी संस्कृति के मूल मनोभाव के अनुरूप ढलती है कि नहीं ! राष्ट्रवाद और सेकुलरिज़्म दोनों आधुनिक पश्चिम की देन हैं। दोनों की पराकाष्ठाएं पश्चिम ने झेलीं और अब भी झेल रहा है। पहले के पीछे सिर्फ यूरोपीय पुनर्जागरण का नहीं, उस धार्मिक साम्राज्यवाद का, धर्म और धर्मतंत्र की उस ऐतिहासिक, पर-द्रोही-आक्रामक और विस्तारवादी अवधारणा का भी बल था जो जूडियो-क्रिश्चियन परम्परा में बद्धमूल प्रतीत होती है। भारत ने उस प्रभाव को भी अपने ही ढंग से ढाला और पचाया। ठीक है कि बंकिम नीरद चौधरी के 'कल्चरल हीरो' हैं और यह अकारण नहीं है, परन्तु क्या यह भी अचरज का विषय नहीं है कि अति-मर्दानगी की औपनिवेशिक अवधारणा से अनुप्राणित यह राष्ट्रभक्ति 'वन्देमातरम्' में अपनी अभिव्यक्ति पाए ? बंकिम की साहित्यिक समीक्षाओं से यह भी ध्वनित होता है कि उन्हें भावुक बंगाल की अपेक्षा उत्तर की दृढ़तर जातियों द्वारा रचे जा सकने वाले साहित्य से अधिक अपेक्षाएं थीं। क्यों थीं ?

इसी तरह 'सेकुलरिज़्म' की अवधारणा के साथ भी भारतीय बुद्धि के आचरण की समीक्षा करें तो क्या यह दावा किया जा सकता है कि उसे लेकर भी अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है और आदर्श संतुलन भारत की धार्मिक संस्कृति के मूल मनोभाव के अनुरूप उपलब्ध कर लिया गया है ? आशिष नंदी

नें स्वयं ही 'पुनर्जागरण-काल' में "हिन्दुत्व के ईसाईकरण" जैसी औपनिवेशिक मानसिकता से प्रेरित प्रवृत्ति लक्षित की है और पूछा है–"क्या कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं थी जो आलोचनात्मक तो होती किन्तु भारतीय संस्कृति की प्रामाणिकता को विचलित किए बिना ही उसे 'अपडेट करती ?" इससे लगता है कि एक ओर जहां नंदी को प्रामाणिकता की चिन्ता है वहीं दूसरी ओर अप-डेटिंग की भी चिन्ता है और उनका आधुनिकता-विरोध भी मात्र आधुनिकता-विरोध न होकर पोस्ट-रेनेसांस यूरोप द्वारा उन्मुक्त सेकुलर हायरार्कीज़ की हीन ग्रंथि-प्रेरित नकल का विरोध ही है। द्रष्टव्य है कि उन्हें एकमात्र ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ही उस पूरे दौर में ऐसी परम्परा-सम्मत आधुनिकता और अधुनातन पारम्परिक आत्म-विश्वास से प्रेरित आचरण के आदर्श उदाहरण लगते हैं। क्यों लगते हैं ? इसलिए कि "उन्होंने हिन्दुत्व का सामीकरण करने और इस सामीकृत हिन्दुत्व को एक बने-बनाए राज्य-सिद्धान्त की तरह अपना लेने से इनकार किया। एक तथाकथित हिन्दु-स्वर्णयुग की लुभावनी कल्पना, जिसमें समकालीन हिन्दू पतित हुए बताए जाएं, उसे भी उन्होंने अस्वीकार किया। मुगलकालीन भारत के इतिहास से भी स्वयं को मनोवैज्ञानिक ग्रंथि में बांधना उन्हें मंजूर नहीं था।" इतना ही नहीं, विद्यासागर, नंदी के कथनानुसार, "हिन्दू-धर्म को 'धर्म' के इस्लामी या पश्चिमी अर्थ में पढ़ने-समझने से बचते रहे, उन्होंने मर्दानगी और सयानेपन की आरोपित विचारधाराओं को ठुकराया और गर्वीले हिन्दु-राष्ट्र की बात करके या हिन्दुत्व को पाश्चात्य संस्कृति के अतिक्रमण का अचूक नुस्खा बताकर गोरों से हिसाब चुकता कर लेने के चक्कर में भी वे नहीं पड़े।" विद्यासागर का योग-दान तब फिर क्या था इसे परिभाषित करते हुए नंदी कहते हैं, "विद्यासागर का प्रयत्न हिन्दुत्व के औपचारिक ढांचे की रक्षा करना नहीं था। वे उसकी आत्मा को बचाना चाहते थे।" हिन्दुत्व की यह आत्मा, नंदी के शब्दों में "अनेक उप-संस्कृतियों और अनेक शास्त्रों का एक खुला और अराजक फेडरेशन है जो नए-नए भाष्यों और आन्तरिक आलोचनाओं की खुली छूट देता है।" सवाल यह है कि खुलापन, आंतरिक आलोचना का यह अवकाश आता कहां से है ? क्या उसके पीछे कोई अनुभवसिद्ध सचाई और प्रयोग-परम्परा का अन्तःप्रमाण नहीं है ? अगर है, तो क्या यह वांछनीय नहीं है कि दूसरे विश्व-धर्मों के अपेक्षाकृत बन्द और एकरंगी स्वभाव के साथ भी उसकी अन्तर्क्रिया की गुंजाइश बने ? उनमें भी थोड़ी 'अराजकता' आए, वे भी आलोचना के लिए खुलें ? यह चाह तो अत्यन्त स्वाभाविक और सच्ची है कि हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या ईसाई-करण न हो, किन्तु संस्कृतियों के परस्परावलंबन का आधुनिक पाठ अगर धर्मों के परस्परावलंबन का सबक सीखे बिना अधूरा रह जाता है तो लोकतांत्रिक

सह-अस्तित्व के लिए यह परस्परावलंबन तभी सार्थक और फलप्रद हो सकता है जब वह सचमुच संवाद हो, सचमुच परस्परावलंबन हो, इकतरफा मामला न हो। 'खुले और बंद' का, 'अराजक और संगठित' का सह-अस्तित्व भला और कैसे सधेगा ? यदि हम इसे अनिष्ट मानते हैं कि जो 'खुला' है वह 'बंद' बनने की ओर न बढ़े—अपने खुलेपन के स्वधर्म में कायम रहे, तो फिर हमें सब के हित में इस संभावना को भी प्रशस्त करने का उपक्रम करना चाहिए कि जो 'बन्द' है वह भी खुलेपन की ओर उन्मुख हो।

आशिष नंदी को विद्यासागर इसलिए आकर्षित करते हैं कि "उनका उपनिवेशवाद-विरोध पश्चिमी बुद्धिवाद से परिभाषित नहीं हुआ।" अपने विरोधियों से विद्यासागर कहीं ज़्यादा हिन्दू इस मानी में थे कि उनका हिन्दुत्व औपनिवेशिक दासता के अनुभव को भी अपने में समाहिते किए हुए था। शायद इसीलिए नंदी विद्यासागर में गांधी जी का पूर्वाभास पाते हैं—"भले ही विद्यासागर को तत्कालीन परिस्थितियों ने अपने सीमित वृत्त से बाहर निकलकर समाज के निम्नतर वर्गों को संगठित करने और 'फ़ोक-हिन्दुइज़्म' का अधिक रचनात्मक उपयोग करने का अवसर नहीं दिया।"

औपनिवेशिकता का अनुभव इकतर्फा नहीं, दो तरफा है। वह आक्रान्त को ही नहीं, आक्रान्ता को भी अपनी लपेट में लेता है। किपलिंग तथा जार्ज औवेल पर पड़े इसके प्रभाव परस्पर विपरीत थे। सिस्टर निवेदिता, एनीबेसेंट और मीरा बेन जैसे व्यक्तित्व भी इस औपनिवेशिक सम्बन्ध के सुफल की तरह प्रगट हुए। नंदी को लेकिन इन सबमें सबसे अधिक मूल्यवान् उदाहरण दीनबंधु एंड्रूज़ लगते हैं—"इसलिए कि वे भारत के सच्चे मित्र भी थे और सच्चे अंग्रेज भी। अर्थात् उनकी कर्मप्रेरणा केवल भारत के प्रति लगाव से ही नहीं उपजी थी, उसमें उनकी आधुनिक पश्चिमी परम्परा का भी बराबरी का योग था।" नंदी इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं कि दो सौ वर्षों के औपनिवेशिक इतिहास में जिस एक व्यक्ति ने सबसे अधिक भारत का पक्ष लिया वह किसी सेकुलर आइडियोलाजी से नहीं, बल्कि अपनी धार्मिक परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करने वाला आदमी था। अपनी सरलचित्त धर्मप्राणता के बावजूद ऐन्ड्रूज़ पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और ईसाइयत के बीच की सांठगांठ को जानते थे। जिस पश्चिम को ऐन्ड्रूज़ ने अस्वीकार किया वह आधुनिक पश्चिम था, न कि पारम्परिक पश्चिम। 'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने यह विश्वास प्रकट किया था कि पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धों की जड़ धर्म के क्षेत्र में सबसे अच्छी तरह जम सकती है। नंदी मानते हैं कि ऐण्ड्रूज़ की ईसाइयत ने गांधीजी के इस विश्वास की प्रामाणिकता को पुष्ट किया।

यहीं पर नंदी की यह विचारोत्तेजक स्थापना सामने आती है, कि पाश्चात्य संस्कृति की विकृति का सर्वाधिक रचनात्मक उत्तर और प्रतिक्रिया उनमें प्रकट हुई जो उसके शिकार थे। उपनिवेशवाद की अति-मर्दानी विश्वदृष्टि को सबसे तगड़ा प्रतिरोध—ऐसा प्रतिरोध जो संस्कृतियों के विभेद को चीरने वाला है—प्रगट हुआ गांधी के रूप में, जो ऐसे देश के प्रतिनिधि थे जिसने साम्राज्यवादियों द्वारा पद-दलित अवस्था में भी अपनी उभयलिंगी सृष्टि और जीवन-शैली थोड़ी-बहुत बचा रखी थी। नंदी यह भी बलपूर्वक दुहराते हैं कि गांधीजी की प्रामाणिक भारतीयता की बात करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गांधी की भाषा, गांधी का मुहावरा समावेशी था और इंग्लैंड तथा भारत, हिन्दुत्व और ईसाइयत जैसे विभाजनों को आर-पार चीर जाने वाला था। नंदी के शब्दों में "उन्होंने पश्चिम की दूसरी परम्परा का जीवंत प्रतीक बनने की लगातार कोशिश की, उनकी लड़ाई मानव-स्वभाव के उस कोमल पक्ष को फिर से खोजने की लड़ाई थी जिसे पश्चिमी आत्म-बोध ने अपने विकासग्रस्त दिनों में आत्म-विस्मृति के अँधेरे में धकेल दिया था।"

नीरद चौधरी का कहना है कि हिन्दुस्तानी स्वभाव से अहिंसक नहीं, बल्कि उग्र और रक्तपिपासु रहे हैं। इसे अतिशयोक्ति मानते हुए भी नंदी कहते हैं कि जिस तरह हिन्दुस्तान में उग्र और आक्रामक वृत्ति के लोग भी हैं उसी तरह इंग्लैंड की सामान्य प्रजा में शांत वृत्ति के लोग भी हैं। गांधीजी को भी इस बारे में कोई भ्रम नहीं था। वे जानते थे कि उनकी अहिंसा के खरीददार ब्रिटेन में मिल जाएंगे, भले ही उनके खुद के देशवासी उसे ठुकरा दें। गांधीजी यह भी जानते थे कि कर्मठता और साहस का आक्रामक पौरुष से कोई अनिवार्य रिश्ता नहीं है। स्त्रियोचित गुणों के साथ भी ये गुण बखूबी निभते हैं। नंदी के कथनानुसार—"गांधी का यह विचार चाहे क्षात्र धर्म के विरुद्ध जाता हो या न जाता हो, वह औपनिवेशिक संस्कृति की तो जड़ ही काट देता है। इसलिए कि औपनिवेशिक संस्कृति उस पाश्चात्य विश्व-दृष्टि पर बुरी तरह निर्भर है जो अति मर्दानगी को ही पुरुषार्थ मानती है—जो कर्म संकुलता और उग्रता के बिना अपने पौरुष के बारे में आश्वस्त ही नहीं हो पाती।" नंदी के निकट गांधी का महत्त्व इस बात में भी निहित है कि "उन्होंने इतिहास के ऊपर मिथकों की वरीयता को स्थापित किया।"

अति मर्दानगी की तरह ही बचपन या बाल-सुलभ वृत्ति का अवमूल्यन भी नंदी की दृष्टि में पाश्चात्य दृष्टि की, यानी उसके औपनिवेशिक साम्राज्यवादी दौर की विकृति ही है। किसी लेखक के हवाले से यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि जब बेइंतहा जुल्म होता है और बचे रहने की समस्या ही प्रमुख हो

जाती है तब बचपन की भाव-दशाओं की ओर प्रत्यावर्तन स्वाभाविक हो जाता है। प्रख्यात समालोचक लातनेल ट्रिलिंग ने भी कहीं लिखा है कि "सदियों की गुलामी लोगों में आत्म-सम्मान का अभ्यास घटा दे सकती है और सयाने लोगों को बच्चों सी रणनीति अपनाना सिखा सकती है।" नंदी का कहना है कि गांधीजी की जो नेतृत्व-शैली थी, वह इस बात की सच्चाई का उदाहरण थी। वह दमन और उत्पीड़न की उस संस्कृति का नैसर्गिक परिणाम थी जिसे उनके देशवासियों ने सदियों तक भुगता था।

निश्चय ही यह इतिहास-बोध से प्रेरित आचरण के खिलाफ लाने वाली बात है। किन्तु नंदी का विचार है कि अनैतिहासिकता पर बल देना ग़ैर पश्चिमी लोगों की स्वायत्तता और स्वाभिमान को रेखांकित करना है। फ्रायड और मार्क्स दोनों के लिए अस्वस्थता का स्रोत इतिहास है, स्वास्थ्य या तो वर्तमान से उपजता है या भविष्य से। नंदी के विचार में भारतीय वृत्तकारों के लिए आदमी के अतीत और वर्तमान के बीच ऐसी कोई दरार नहीं है। रोग यदि अतीत का परिणाम है तो स्वास्थ्य भी है। कर्मफल भी वर्तमान और भविष्य दोनों पर लागू होता है। नंदी के कथनानुसार मिथक हमें उन प्रक्रियाओं तक सीधी पहुँच देते हैं जो इतिहास को आज और अभी के स्वर पर रचती है।

इतिहास के दुश्चक्र से गांधीजी ने स्वयं को किस तरह मुक्त किया इसकी व्याख्या करते हुए नन्दी कहते हैं कि भारतीय संस्कृति अपनी नैरन्तर्य की भाषा द्वारा उथल-पुथल और विच्छेदों को भी जज़्ब कर लेती रही है। नैरन्तर्य पर इतना बल दिया गया है कि इतिहास में जब-जब गहरे परिवर्तन और अतीत से विच्छेद भी प्रकट हुए तब भी वे विच्छेद न लगकर मामूली सुधार जैसे ही लगे। नन्दी ने इस बात के उदाहरण के रूप में भक्ति-आन्दोलन को गिनाया है। परम्परागत विश्वास यही रहा है कि आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार जितना गहरा होगा उतनी ही अनात्म की, भौतिक संसार की भी समझ बढ़ेगी। यह आधुनिक दृष्टि को चुनौती देने वाली बात है, क्योंकि आधुनिक दृष्टि यही मानकर चलती है कि मनुष्य जितना ही अनात्म को-बाहरी जगत् को तथा मन-बुद्धि, जैविक-सामाजिक इतिहास से निर्मित अन्तर्जगत् को-समझता है और उस पर नियंत्रण हासिल करता है उतना ही वह अपने आत्म (अर्थात् अहं, चेतना इत्यादि) पर भी काबू पा सकता है। गांधी के जीवन-कार्य से पारस्परिक विश्वास की बलवत्तरता स्थापित होती लगती है और उससे यह भी साबित होता है कि उपनिवेशवाद भी प्रथमतः चेतना का ही मामला है और उसे मानव-मनों में ही पराजित किया जा सकता है।

उक्त निष्कर्ष के ही नैरन्तर्य में हम इस पुस्तक के दूसरे अध्याय तक पहुंचते हैं जिसका शीर्षक भी इसीलिए रखा गया है–**दि अनकालोनाइज्ड माइण्ड - ए पोस्ट-कालोनियल व्यू आव इण्डिया एण्ड दि वैस्ट**। साम्राज्यवादी यूरोप अपनी अति-मर्दानगी में अपनी अधीनस्थ प्रजा की 'पैस्सिविटी' यानि स्थितिशीलता का मखौल उड़ाता था, उसे स्त्रैण और बचकाना समझता था। हमारी जो प्राथमिकताएं थीं उन्हें उलट देने का उसका षड्यंत्र भी रंग ला ही रहा था। पर इस षड्यंत्र को गांधीजी ने पहचाना और अपनी सभ्यता के आक्रांत मूल्यों की ही पुनः स्थापना करते हुए उन्हीं के ज़रिए साम्राज्यवाद और उसके मिथकों से अपनी लड़ाई लड़ी। **हिन्द स्वराज** में उन्होंने स्पष्ट ही घोषित किया कि "हमारी पैस्सिविटी हमारा गुण है, दोष नहीं। अनुभव से हमें जो ठीक लगा है उसे हम क्यों बदलेंगे? बहुत से अक्ल देने वाले आते रहते हैं पर हिन्दुस्तान अडिग रहता है।' सभ्यता की परिभाषा भी उन्होंने जिस तरह वहां की थी वह ध्यान देने योग्य है और नंदी के पूर्वोक्त विवेचन के मेल में है। उन्होंने कहा था कि—"अपने मन तथा इच्छाओं को बस में रखना—इसी के द्वारा हम अपने को और अपनी असलियत को पहचानते हैं और यही सभ्यता है। इससे उलटा हो तो वह असभ्यता है।" स्पष्ट ही गांधीजी यहां आधुनिक दृष्टि के विरुद्ध पारंपरिक जीवन-दृष्टि का ही पक्ष ले रहे थे। अनात्म पर जोर देने वाली इन्द्रियार्थ-प्रेरित सभ्यता को वे यहां 'असभ्यता' कहते हैं और थोड़ा ही आगे 'चांडाल सभ्यता' कहते हैं। जहां वैसी आत्मानुशासित सभ्यता होगी वह अंग्रेज़ राज के बावजूद भीतर से अप्रभावित होगी। ऐसा महसूस करते हुए ही उन्होंने कहा था कि "जहां यह चांडाल सभ्यता (अर्थात् आधुनिक सभ्यता) नहीं पहुंची है वहां हिन्दुस्तान आज भी वैसा ही है। उस पर न तो अंग्रेज़ राज कर सके, न आप कर सकेंगे।"

नंदी ने शायद इसी हिन्दुस्तान की—गांधीजी द्वारा 'हिन्द स्वराज' में संकेतित और आधुनिक सभ्यता की उलटी खोपड़ी से अप्रभावित हिन्दुस्तान की-अधिसंख्य जनता को 'दूसरा भारत' कहा है—विस्मृत बहुसंख्यकों का भारत। इसके साथ उन्होंने जोड़ी बैठाई है 'दूसरे यूरोप' की—उसे 'विस्मृत अल्पसंख्यक' की संज्ञा देते हुए और संकेत उभारते हुए कि जिस तरह औपनिवेशिक दौर में ये दोनों अन्तर्धाराएं स्वाभाविक मित्र थीं और उपनिवेशवादी मानसिकता को तगड़ा प्रतिरोध दे सकी थीं उसी तरह बाहरी तौर पर उपनिवेशवाद के समाप्त हो चुकने के बाद भी जो उसके संस्कार आज भी ज्यों के त्यों मानव-मस्तिष्कों में कायम हैं, बल्कि पहले से कहीं ज़्यादा सूक्ष्म ढंग से सक्रिय हैं, उनसे प्रभावी ढंग से निपटने के लिए भी इन्हीं दोनों का सहयोग चाहिए। अर्थात्, अब यह पूरब-

पश्चिम के सरलीकृत द्वन्द्व की समस्या नहीं है। पहले भी नहीं थी उस तरह, अब तो और भी नहीं है। उपसंहार में नंदी ने, पूर्व-पश्चिम द्वन्द्व की चर्चा जिन अभ्यस्त लीकों पर चलती रही है—भौतिक बनाम आध्यात्मिक, सोद्देश्य कर्मठ बनाम अकर्मक इत्यादि—उनमें एक पांचवां सूत्र अपनी तरफ से जोड़ा है—उसी को असली द्वन्द्व बताते हुए। वह है सुपरिभाषित आत्म-चेतन भारतीयता बनाम एक अस्थिर, लेकिन खुली हुई आत्म-परिभाषा। नंदी का पक्ष इनमें से दूसरे वाला है। यह दुर्बलता, निरीहता और वध्यता का भी पक्ष है, स्त्रीत्व और बचपन और वार्धक्य का पक्ष—जो कर्म-कठोर, महत्त्वाकांक्षी पौरुष वाले आधुनिक सभ्यता के पक्ष से कहीं अधिक मूल्यवान् है। इसलिए कि वह रक्षणशील है, निरंतरता का पोषक है और मनुष्य में निहित हिंसा और आक्रामकता के खिलाफ एकमात्र कारगर कवच है। इसीलिए लेखक कहता है कि जैसे हम हैं अपने को वैसा ही स्वीकार कर पाने के लिए यह अनिवार्य है कि हम अपनी दुर्बलताओं को भी निधि की तरह संजोना सीखें–इसी विश्वास में. कि सांस्कृतिक दृष्टि से बंजर और राजनैतिक रूप से दिवालिया हो चुकी दुनियां कभी किसी दिन शायद इन्हीं के पास लौटने को बाध्य हो जाए।" यहां पर नंदी से यह पूछने की ज़रूरत महसूस होने लगती है कि बंद आत्म-परिभाषा वाली संस्कृतियों द्वारा कुपरिभाषित भारतीयता को सुपरिभाषित करने के आत्म-चेतन भारतीय प्रयत्न उन्हें स्वाभाविक और सार्थक क्यों नहीं लगते ? यह भी कि जो 'खुला' है वह आत्म-चेतन होकर बंद हो जायगा, यह क्यों अनिवार्य है ? योगवासिष्ठ, महाभारत तथा रामचरित मानस सुपरिभाषित आत्म-चेतन भारतीयता क्यों नहीं हैं ? रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि और महात्मा गांधी भी इसी कोटि में क्यों नहीं गिने जा सकते ?

यह अकारण नहीं है कि अशिष नंदी ने रडयार्ड किपलिंग की केस हिस्ट्री भी बहुत मार्मिक ढग से सामने रक्खी है। यह ज़रूरी था, क्योंकि किपलिंग एक तरह से अशिष नंदी का पूर्व-पक्ष है जिसे (यानी जिसकी उस प्रसिद्ध स्थापना को कि 'पूरब-पूरब है, पश्चिम-पश्चिम है, दोनों कभी मिल नहीं सकते) ध्वस्त किये बिना नंदी का उत्तरपक्ष (यह कि भारत के बहुसंख्यक और यूरोप के अल्पसख्यक एक-जुट हो सकते हैं दमन-उत्पीडनकारी उपनिवेशवादी जीवन-दृष्टि के विरुद्ध) सिद्ध नहीं होता। किपलिंग अपने साम्राज्यवादी उन्माद में क्षत्रियत्व की महिमा का बखान करता था, पर यह नहीं समझता था कि क्षत्रियत्व की भूमिका हमारी विश्व-दृष्टि में कितनी सीमित है। यही विवेक था जो असुरत्व को क्षत्रियत्व की ही विडम्बना और विकृति के रूप में प्रस्तुत करता था। नंदी का कहना है कि "एक ओर किपलिंग जैसे लोग हैं जो क्षात्र भारत को असली भारत मानकर

उसके फिर से गौरवारूढ़ होने की फैंटेंसी में जीते हैं ओर दूसरी ओर वे हैं जो आध्यात्मिक भारत को असली भारत मानते हैं।" नंदी इस विकल्प को भ्रान्ति बताते हैं और उसे अपने-आप में साम्राज्यवादी अभियान की ही उपज बताते हैं। नंदी की सारी सराहना, सारी उम्मीद भी उस दुर्बलता जैसी प्रतीत होने वाली मगर वास्तव में सृजनात्मक आत्म-रक्षा की वृत्ति पर निछावर हुई है जो उनके विश्लेषण के मुताबिक भारत ने अपने आक्रांताओं द्वारा एक निरुपाय स्थिति में डाल दिये जाने के फलस्वरूप विकसित की है। स्पष्ट ही नंदी के निष्कर्ष नीरद चौधरी या वी. एस. नायपॉल सरीखे बुद्धिजीवियों से काफी अलग और बेमेल हैं। परन्तु एक बड़ी मज़ेदार बात नंदी ने यहां पर ऐसी कही है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि अलग कोण से सोचने वाले ये दोनों बुद्धिजीवी भी नंदी के लिए विरोध या वितृष्णा के पात्र भर नहीं हैं बल्कि समझ और सहानुभूति के विषय भी हैं। उनके अनुसार, "नायपॉल और चौधरी जैसे बौद्धिक लोग उक्त अनिवार्य आत्म-रक्षा की प्रणाली (प्रवृत्ति) के आलोचक ही नहीं हैं, वे उसके अंग भी हैं।" अर्थात् उन्होंने जो कुछ लिखा है वह भी जाने-अनजाने आत्म-रक्षा की उसी अनिवार्य युक्ति से प्रेरित होकर ही लिखा है। कहीं न कहीं उनकी जड़ें भी साम्राज्यवादी आक्रामक पश्चिम और पारंपरिक आक्रांत भारत की भीतरी मुठभेड़ में ही हैं। किपलिंग के ईगो-आयडियल्स' न तो बहुसंख्यक भारत के थे न अल्पसंख्यक यूरोप के। किन्तु औपनिवेशिक शिक्षा-प्राप्त बुद्धिजीवियों पर उनका कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ना ही था। 'हिन्द स्वराज' का लेखक भी क्या एक जगह अपने संवादी से यही नहीं कहता कि, "हम शिक्षित ही गुलाम हैं, सारा हिन्दुस्तान नहीं।" यह भी कि "हिन्दुस्तानी सागर के किनारे पर ही मैल जमा है। उस मैल से जो गंदे हो गए हैं उन्हीं को साफ होना है। बाकी करोड़ों लोग तो असली रास्ते पर ही हैं।"

किन्तु यहां पर बड़ी गलतफ़हमी की गुंजाइश हो सकती है। वह यह कि गांधी इतने आधुनिकता-द्रोही थे कि सारे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को अनर्थकारी मानते थे। यह भी कि वे अतीतोन्मुखी आदर्शवादी थे जो गीता की उस यथार्थवादी चेतावनी को भी अनसुना कर रहे थे जिसके मुताबिक "समाज की गतिविधि उसके अभिजनों के मूल्य-विवेक और आचरण से ही निर्धारित होती है और श्रेष्ठ जन जैसा करते हैं वही इतर जनों के लिए प्रमाण बनकर अनुकरणीय हो जाता है।" पर ऐसा नहीं है। ऐसा होता तो गांधी नंदी की किताब में ही क्यों, वी. एस. नायपॉल सरीखे अपेक्षाकृत अधिक पश्चिमाभिमुख लेखक की चेतना में भी इतनी ज़्यादा जगह कैसे घेर सकते? नायपॉल के 'एन एरिया आव डार्कनेस' में भी गांधी प्रलम्बित परछाइं हैं, और अभी सबसे हाल में छपी किताब

इण्डिया : ए मिलियन म्यूटिनीज़ नाउ में भी भारत की पुनर्नवा भाव-ऊर्जा और बुद्धि-ऊर्जा और सबसे तगड़े प्रतीक और प्रतिमान के रूप में गांधी का आह्वान-स्तवन बरकरार है। नीरद चौधरी का गांधी से कुछ भी लेना-देना हो सकता है, यह अकल्पनीय सा लगता है। किन्तु अपनी आत्मकथा में इस लेखक ने भी गांधीजी को भारत के इण्टर्नल प्रोलेतारियत का सबसे प्रामाणिक प्रतिनिधि मानते हुए उन्हें 'संट फ्रांसिस आव असीसी' से तुलनीय और समकक्ष बताया है। अन्ततः आशिष नन्दी का दूसरा यूरोप—भारत का समानधर्मा यूरोप—भी तो, उन्हीं के कथनानुसार, सेंट फ्रांसिस से ही परिभाषित होता है, आगुस्तीन या इग्नैशियम लोयोला से नहीं। और ऐण्ड्रूज़ जैसे लोग भी, उनके तर्क से, सेंट फ्रांसिस वाली दूसरी परंपरा की ही उपज हैं। अब रही पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा के प्रति गांधीजी के रुख की बात, तो उन्होंने एक जगह स्वयं ही स्वीकार किया है कि, "मैं पश्चिम की सत्य की व्याकुल खोज का प्रशंसक रहा हूँ, विद्यार्थी भी।" इतना ही नहीं, आशिष नन्दी ने यह दिखलाने के लिए कि भारत कितना पश्चिम को अपने भीतर समोए हुए है, गांधीजी का एक और कथन उद्धृत किया है, जो ध्यान देने योग्य है :

"भारतीयों में जिस किसी ने भी किसी भी क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धि की है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य शिक्षा का ही फल है। इसके साथ-साथ, यह भी सच है कि जनसामान्य पर उसका जो भी अच्छा प्रभाव पड़ा है उसका श्रेय पूरी तरह अपनी संस्कृति में उसकी जड़ों को जाता है।"

औपनिवेशिक दलन और उत्पीड़न को पचा लेने में और उससे भी उबर सकने में सक्षम यह जो 'संस्कारगत वैश्विकता है अनाधुनिक भारत की वह इस अपने दुःखद और सुदीर्घ अनुभव के भीतर से ही अपनी परंपराओं का अधिक परिपक्व, अधिक समसामयिक, अधिक आत्मालोचन-संपन्न रूप रच सकी है', ऐसा कुछ नंदी का अभिप्राय है। किपलिंग अपनी पश्चिमी जड़ों में स्थापित होना चाहता था प्रयत्नपूर्वक, चूंकि उसका बचपन हिन्दुस्तानियों के बीच बीता था, इसलिए उसकी सृजनात्मक कल्पना पूरी तरह उसकी हिन्दुस्तानी रंगों-रूपों-आवाजों और चरित्रों की स्मृति में रची-बसी हुई थी। नन्दी का निष्कर्ष है कि उसके लिए एक साथ अंग्रेज़ और भारतीय दोनों होना सम्भव नहीं था और यही उसके जीवन की त्रासदी थी। जबकि एक औसत भारतीय—तब भी, जब वह केवल भारतीय है—भारतीय और पाश्चात्य दोनों हो सकता है, और है।

नन्दी ने श्री अरविन्द की किपलिंग से तुलना की है : "अरविन्द सांस्कृतिक दृष्टि से यूरोपीय बालक था जो बड़े होने पर भारत के आध्यात्मिक नेतृत्व का दावेदार बना। किपलिंग को अपनी हिन्दुस्तानी जड़ों को इसलिए नकारना पड़ा

कि उसके मन में जो सच्चे यूरोपीय की अवधारणा थी वही वह बन जाए, जबकि अरविन्द ने भारतीयता को इसलिए अंगीकार किया कि उनके मन में भारत की जो प्रामाणिक प्रतिमा थी, वे वह बन जाएं। दोनों आशिष नन्दी की नज़र में उपनिवेशवाद द्वारा पैदा किये गए मानस-रोग के लक्षण दर्शाते हैं। फ़र्क इतना ही है कि अरविंद उपनिवेशवाद द्वारा उत्पन्न किये गए आत्म-विभाजन के प्रति एक अधिक व्यापक-वैश्विक प्रतिक्रिया के प्रतीक बने। उन्हें उस तरह अपने भीतर निहित पश्चिम को नकारना नहीं पड़ा जैसाकि किपलिंग को अपने भीतर छिपी भारतीयता को नकारना पड़ा। अरविंद की चिंता का फलक समूची मानव-जाति और उसके समूचे विकास-क्रम में विस्तृत था।

किन्तु, यदि ऐसा है तो क्या इस घटना की व्याख्या मात्र मनोविश्लेषण के स्तर पर पूरी हो जाती है? नन्दी ने दिखाया है कि किस प्रकार जब आश्रम की व्यवस्था पूरी तरह 'मदर' के नियंत्रण में चली गई तो वह प्रजातांत्रिक नहीं रहा, भेद-भाव से पट गया। यहां तक कि पांडिचेरी की स्वतंत्रता का भी आश्रय ने विरोध किया। नन्दी ने उस 'ट्रान्सेण्डेण्डल' लक्ष्य का और उसकी व्यावहारिक सम्भावना का उल्लेख तो किया है जिसको पूर्णतः सर्मपित हो जाने के कारण श्री अरविन्द आश्रम की गतिविधियों से कट गए, किन्तु इससे बात नहीं बनती। 'मदर' के रूप में अपने भीतर के पश्चिम का साक्षात्कार, उस पर संपूर्ण विश्वास और निर्भरता की उक्त परिणति को देखते हुए शंका उठने लगती है कि अपने उजड्ड तरीके से कहीं किपलिंग ही तो सही नहीं था? पूर्व और पश्चिम का समन्वय, नन्दी द्वारा इष्ट और समर्थित समन्वय भी, कहीं इच्छित चिंतन ही तो नहीं है? ऐण्ड्रूज़ के मामले में भी कहीं लेखक ने कुछ अधिक तो नहीं पढ़ लिया? नन्दी एक ओर तो यूरोपियन रेनेसांस को यूरोपीय मानस के विकारग्रस्त होने की शुरुआत मानते हैं और उससे पहले के यूरोप को बख्श देते जान पड़ते हैं और दूसरी तरफ वे बार-बार यूरोप की कॉस्मोलॉजी और भारत की विश्व-दृष्टि के अन्तर को, एक की एकांगिता और दूसरे की समग्रता को भी रेखांकित करते जान पड़ते हैं, मानो वहीं असली भेद हो। किन्तु इसे महत्त्व देने पर यह अनिवार्य हो जाता है कि दोनों विश्व-दृष्टियों की जड़ों में ही जो बुनियादी फर्क है उसे गंभीरतापूर्वक लिया जाय। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में कहां से वह विचलन पैदा होता है जहां से मनुष्य का सृष्टि से संवाद एकांगी दिशा पकड़कर दिव्यता की अनुभूति को, नर-नारायण के सम्बन्ध को और स्वयं विश्व-मानवता को भी धर्मविश्वास के आधार पर ही खंडित और विभाजित करने की ओर प्रवृत्त होता है? 'दूसरे यूरोप' और ईसाइयत की भी 'दूसरी परम्परा' की बात तो बिल्कुल ठीक है और उसका पारम्परिक भारत से सादृश्य बिठाना भी सर्वथा संगत है। नन्दी ने ही नहीं, कुमारस्वामी सरीखे मनीषी ने और विलियम बटलर येट्स

सरीखे महाकवि ने भी सत्यान्वेषण और आत्मान्वेषण का यही मार्ग चुना था। किन्तु आज जब उग्रवाद, धर्मोन्माद चारों ओर से सिर उठा रहा है, क्या वह दूसरी परम्परा उसे उतना भी प्रतिरोध देने में सक्षम है जितना वह साम्राज्यवाद के दौर तक में थी? स्वयं हमारे देश में गांधी या अरविन्द का उत्तराधिकार किस मानी में, कितनी दूर तक फलीभूत हो पाया है? ईसाई जगत् में जिस तरह दूसरी परम्परा की बात उठाई जाती रही है, इस्लामी जगत् में भी क्या उसी तरह दूसरी परम्परा की बात कभी उठी है, उठाई जा सकती है? या कि वह अब भी एक संभावना, एक दुराशा मात्र है? नन्दी को इस प्रश्न ने क्या कभी उद्वेलित नहीं किया कि उनके ही मुहावरे की 'एण्ड्रोजीनस कास्मोलॉजी' (उभय-लिंगी ब्रह्माण्ड-कल्पना) के इस देश में, जहां इस संभावना के फलने की सबसे ज़्यादा गुंजाइश होनी चाहिए थी, क्यों ऐसी घटना घटित होती है कि महात्मा गांधी के राजनैतिक उत्तराधिकार के सबसे बड़े दावेदार ही सबसे ज़्यादा मुस्तैदी के साथ उसी किताब पर पाबंदी लगाते हैं जो अपने खिलदड़े अन्दाज़ में एण्ड्रोजीनस कास्मागोनी के प्रति थोड़ा झुकाव जताती प्रतीत होती है। वह भी उसी 'हाइपर मैस्कुलिनिटी' को संतुलित करने के लिए जिससे आशिष नन्दी को इतनी शिकायत है?

नन्दी को श्री अरविन्द से सहानुभूति तो है पर औपनिवेशिक भारतीय समाज की व्यापक वेदना का प्रतीक वे गांधी को ही मानते प्रतीत होते हैं, अरविन्द को नहीं। वे पूछते हैं: क्या अरविन्द की भाषा उनके समाज की अपनी भाषा की खोज है? एकदम 'न' में इसका उत्तर न देकर वे कहते हैं कि इसका निर्णायक उत्तर देना सम्भव नहीं है। किन्तु यहीं पर उनसे प्रति प्रश्न करना होगा कि क्यों नहीं है? क्या मनोविश्लेषणात्मक और समाजशास्त्रीय भाषा की भी अपनी सीमाएं नहीं होंगी? वे बंकिम और सम्भवतः दयानन्द को अपने व्यापक समाज के प्रतिनिधित्व का श्रेय इसलिए भी नहीं देना चाहते कि उनकी चेतना अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक दासता के सूक्ष्म षड्यत्रों के प्रति सजग होने के बजाय मध्यकालीन मुगल भारत से ग्रस्त है। किन्तु नन्दी जिसे भारतीय समाज की व्यापक वेदना कहते हैं वह क्या सम्पूर्णतः और केवलमात्र औपनिवेशिक दौर की ही उपज है? आक्रान्त मानसिकता के अन्तर्विरोध भले ही इस दौर में ज़्यादा प्रकट हुए हों, यह कैसे कहा जा सकता है कि इस मानसिकता का आरम्भ भी इसी दौर में हुआ? आक्रांताओं का स्वभाव, गुण-धर्म और शैलिय भिन्न हो सकती हैं, उनके कारण आक्रांता और आक्रांत का सम्बन्ध भी बदला जा सकता है, किन्तु इससे आक्रांत होने का तथ्य और मानसिकता तो तिरोहित नहीं हो जाते। क्या पहले वाले आक्रमण में भी दो परस्पर असमंजस और विरोधी विश्व-दृष्टियों का तनाव-

टकराव अन्तर्निहित नहीं था ? और क्या उसने भी औपनिवेशिक दौर की तरह अपनी छाप नहीं छोड़ी ? ट्वायनबी जैसे इतिहासकारों के मुताबिक अगर इस्लाम भी क्रिश्चियानिटी की ही 'हेरेसी' है तो विश्व-इतिहास का आखेट और रंगस्थल बने इस भारत के लिए अपनी नियति और समकालीन विश्व में अपनी अवस्थिति का चिंतन क्या अधिक दूरगामी और दूरदर्शी नहीं होना चाहिए ? और क्या यह ज़रूरत औपनिवेशिक अनुभव के विश्लेषण से या सर्वाईवल-केन्द्रित उसकी व्याख्या से पूरी हो जाती है ? जिस 'सभ्यता' की बात 'हिन्द स्वराज' में एक चुनौती की तरह उठाई गई है, जिस विश्व-दृष्टि की वकालत अपने ढग से एक समग्र और सर्वसमावेशी विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि की तरह आशिष नन्दी ने भी इस पुस्तक में की है उसके बचे रहने की चिंता भी समग्रात्मक ही होनी चाहिए। इस तरह देखने पर क्या अपने निकट इतिहास के तथ्य एक अधिक प्रेरणादायी संगति में विन्यस्त नहीं हो सकते ? जो प्रवृत्तियां और प्रेरणाएं तब परस्पर असमंजस ही नहीं विपरीत तक जान पड़ती थीं वे भी क्या सुदीर्घ परि-प्रेक्ष्य में—दमन और उत्पीड़न के सुदीर्घ सिलसिले को देखते हुए—परस्पर-पूरक चिन्ताओं और कर्म-चेष्टाओं के एक महाप्रवाह की तरह नहीं लगतीं, जिसमें कई धाराएं, कई व्यक्तित्व योगदान कर रहे हैं और जो स्वातंत्र्योत्तर युग में एकाएक ठहर गया, सूख गया सा लगता है ?

आशिष नंदी के लिए भी आखिर इस शताब्दी की सीख कुल मिलाकर क्या है ? यही न कि संगठित अत्याचार और उत्पीड़न की हर परिस्थिति में सही विलोम एक ओर सबको समोने वाले समग्र और दूसरी तरफ अपने को अलग-थलग करके ही अपने को पूरा मानने और मनवाने का दंभ करने वाले हिस्से के बीच बनता है, न कि पुरुषत्व बनाम स्त्रीत्व से ! पुरुषत्व-स्त्रीत्व का विलोम नहीं है बल्कि दोनों समान रूप से 'एण्ड्रोजिनी' अर्थात् उभयलिंगत्व के विलोम हैं। अतीत वर्तमान का विलोम नहीं है बल्कि अकेला अतीत या अकेला वर्तमान उस कालातीत का विलोम है जिसमें अतीत वर्तमान होता है और वर्तमान अतीत। इसी तरह दमनकारी बनाम दमित भी असल विलोम नहीं है। असल विलोम दमनकारी और दमित दोनों के तथा उस बुद्धि के बीच बनता है जो बुद्धि (यानि दुर्बुद्धि) दोनों को एक-साथ अपना आखेट बनाती है।

दूसरे शब्दों में, नंदी के अनुसार थीसिस का सही विलोम एण्टीथीसिस नहीं बल्कि सिंथीसिस है क्योंकि उसमें थीसिस तो समाविष्ट है ही, एण्टीथीसिस के पैदा होने का कारण ही समाप्त हो जाता है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म को ब्राह्मण-कट्टरवाद ने या राज्याश्रित बौद्धविरोधी विचारधारा ने नहीं बल्कि प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाने वाले शंकर के वेदान्त ने विस्थापित किया। भारतीय

संस्कृति की विलक्षणता नंदी के अनुसार किसी विलक्षण विचारधारा में न होकर भारतीय समाज की उस परम्परागत सामर्थ्य में है जो सांस्कृतिक अनेकार्थताओं के साथ जी सकती है तथा इन अनेकार्थताओं को सांस्कृतिक आक्रमणों के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक-तात्त्विक रक्षा-कवचों में बदल सकती है। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि भारतीयों ने अपने आत्म-बिम्ब को किसी एक सुनिश्चित, कसी हुई परिभाषा में नहीं बांधा। हिन्दुओं को हिन्दुत्व की किसी राष्ट्र, मतवाद या जाति से जुड़ी हुई और दूसरे समुदायों से अपने को साफ-साफ अलगाने वाली अवधारणा की ज़रूरत उन्नीसवीं सदी तक नहीं पड़ी थी। नन्दी का आरोप है कि आधुनिक सुधारकों ने ही हिन्दुओं में कम्युनिटी-बोध और कम्युनिटी के रूप में अपने इतिहास-बोध को खोजना शुरू किया। यानि हिन्दुओं का आत्म-चेतन न होना ही उनकी सबसे अमिट पहचान है और इसी में उनकी कुशलता, यानि उनकी सभ्यता के बचे रहने का आश्वासन भी है। अपने धर्म की रक्षा के लिए शहीद हो जाने वाले 'अज़टेक' पुरोहितों का दृष्टांत देते हुए नन्दी कहते हैं कि उनकी जगह ब्राह्मण-पुरोहित होते तो वे मरने के बजाय ईसाइयत कबूल कर लेते और फिर भी उनकी ईसाइयत 'हिन्दु' होती। इसी से लगा-लिपटा उनका निष्कर्ष यह भी है कि जो हमें हिन्दुओं का पश्चिमीकरण सा लगता है वह दरअसल पश्चिमीकरण नहीं, स्वधर्म-विलोम नहीं, महज़ अपने भीतर घुस आए पश्चिम को घरेलू और पालतू बना लेने का एक ढंग या युक्ति भर है। इसलिए कि औसत हिन्दु एक बहुत लम्बी अवधि से दुःख और कष्ट की चेतना के साथ जीने का आदी रहा है। इसलिए कि अपनी गहनतम आस्थाओं को बचाए रखने की स्त्री-सुलभ वृत्ति उसमें विकसित हो गई है और मर्दों को प्रिय तथाकथित गरिमा या आत्मसम्मान की उसे बहुत फ़िक्र नहीं सताती। मेरा ख़याल है कि ये सारी बातें ऊपर से ठीक-ठाक लगते हुए भी सरलीकरण से मुक्त नहीं हैं और बहस आमंत्रित करती हैं। औपनिवेशिक अनुभव की व्याख्या के लिए "आर्केटाइपल सर्वाईवर" का प्रतीक और प्रतिमान प्रासंगिक और पर्याप्त हो सकता है किन्तु उसके आगे-पीछे बहुत कुछ है जिसको भेदने के लिए यह दृष्टि अपर्याप्त और 'आउट आफ फोकस' लगने लगती है। 'आर्केटाइपल सर्वाईवर' के पीछे जिस अभय-मूलक विश्व-दृष्टि का बल होता होगा उसका भी गहन चिंतन अन्य आक्रामक विश्व दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में आवश्यक है। अंततः नंदी के कल्चरल हीरो गांधीजी का मूल मंत्र भी अभय ही था। खुलापन और आत्म-परिभाषा का लचीलापन अगर कार्पण्य या दौर्बल्य न होकर शक्ति है, और लोकमंगलकारी शक्ति है, तो उसे बार-बार नई-नई बुद्धि-ऊर्जा और भाव-ऊर्जा से परिभाषित भी करना होगा और उसकी लोकव्यापी अभिव्यक्ति के मार्ग भी खोलने होंगे। वरना

उसके होने का और बचे रहने का अर्थ क्या है, औचित्य क्या है ? जो लचीलापन और अनेकार्थता अपने पड़ौसी को भी लचोला नहीं बना सकती, उलटे उसे उसकी कट्टरता के कड़े खोल में ही निरवधि निर्वासन भोगने की सुविधा जुटाकर अपने को कृतकृत्य समझती है, उस लचीलेपन का मूल्य क्या है, सार्थकता क्या है— सिवा एक आत्मवंचक विडम्बना और विपर्यय के ? आशिष नंदी ने उपसंहार में जीव-जगत् के 'खा जाओ या खा लिये जाओ' के समानान्तर मानव-जगत् का नियम 'परिभाषित करो या फिर परिभाषित ·हो जाओ' ऐसा बताया है । स्वयं उनकी यह पुस्तक भी परिभाषित करने वालों की पुनः परिभाषा का एक आधुनिक प्रयत्न ही तो है । इस प्रयत्न में परिभाषित हो जाने वाले लोगों की परिभाषा हो जाना शामिल है, यह उन्होंने खुद ही हिन्दुत्व की आत्मा को 'अनेक शास्त्रों का एक खुला और अराजक फेडरेशन' कहकर परिभाषित करके दिखा ही दिया है । क्या सचमुच यह परिभाषा हमारे आत्मीय शत्रु द्वारा की गई हमारी परिभाषा से बहुत भिन्न है ? क्या यह आशिष नंदी की ही अभीष्ट शब्दावली में "भारतीय संस्कृति की प्रामाणिकता को विचलित किये बिना उसे 'अप-डेट' करने वाली है ? इन पंक्तियों के लेखक के लिए इस बारे में आश्वस्त हो पाना कठिन है ।

एफ 3/2, प्रोफेसर कालोनी,
भोपाल 462002

श्रुति और श्रुतिप्रामाण्य के प्रवाद

हर्षनारायण

यदि कहें कि श्रुति और उस के प्रामाण्य के सम्बन्ध में हमारे दार्शनिक प्रस्थानों ने जो भी ऊहापोह किया है उस का अधिकांश निराधार, अप्रासङ्गिक, और अनर्गल है, तो छोटा मुंह बड़ी बात का आरोप लग जायेगा, किन्तु-

यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ?

श्रुति नित्य है या अनित्य, पौरुषेय है या अपौरुषेय, मनुष्यकृत है या ईश्वरकृत, स्वतःप्रमाण है या परतःप्रमाण यह समस्त विचार-वितर्क श्रुतिस्वरूपविषयक अज्ञान अथवा भ्रान्ति के परिचायक हैं। डॉ. दयाकृष्ण अपने कई लेखों में सम्भवतः इसी ओर इङ्गित करना चाहते हैं।

ऐसा मैं डॉ. नारायण शास्त्री द्राविड़ द्वारा जुलाई 1990 के अङ्क में प्रकाशित डॉ. दयाकृष्ण के लेख, 'श्रुति के (की) दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक : जैमिनि और बादरायण,' की प्रतिक्रिया में गताङ्क में उठाये गये इस प्रश्न के केवल दिग्बोधक उत्तर में कह रहा हूँ कि "यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखक महोदय वेद तथा उपनिषत् की रचना को व्यवस्थित करना चाह रहे हैं या समूचे वैदिक वाङ्मय को अप्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं, अथवा जैमिनि तथा व्यास को वेदार्थ का विपर्यासक जतलाना चाहते हैं ?" मैं भी मानता हूँ कि श्रुति का स्वरूप विवादास्पद अथवा अनिर्णीत है, श्रुति की इयत्ता अनिर्धारित है, श्रुति की ईदृक्ता निर्निष्कर्ष है, अतः श्रुति के प्रामाण्य का आग्रह और श्रुतिप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व का विवाद निराधार हो जाता है।

हमें तो 'श्रुति'-संज्ञा का स्वारस्य ही नहीं समझ में आता। 'श्रुतिस् तु वेदो विज्ञेयः' (मनु. 2.10) क्यों ? ऋषियों को वेदमन्त्रों का दर्शन हुआ था, उन से श्रवण तो श्रुतर्षियों ने किया था (निरुक्त 1.20, दुर्ग-वृत्ति-सहित)। अतः वेद को श्रुति के बदले दृष्टि नाम देना अधिक साम्प्रत होता। इसी प्रकार धर्मशास्त्र के लिए 'स्मृति'-संज्ञा भी नहीं जमती। किस की स्मृति ? श्रुति तो प्रत्यक्ष है। जैमिनि के अनुसार स्मृति किसी न किसी वेद का अनुसरण करती है, यहाँ तक कि यदि किसी स्मृति अथवा तत्प्रतिपादित आचार के लिए किसी वेद मन्त्र का आधार नहीं प्राप्त होता तो मान लिया जाता है कि उस की आधारभूत कोई लुप्त वेदशाखा अथवा वेदवचन रहा होगा (**पू. मीमांसा-सूत्र** 1.3. 1-2, भाष्य और वार्तिक सहित)। स्मृति तो स्वतन्त्र लोकाचार की ही हो सकती है। कहीं

ऐसा तो नहीं कि स्मृति का उदय लोकाचार की व्यवस्था के निमित्त हुआ हो और कालान्तर में उस के वेद-निरपेक्ष अंशों को लुप्तशाखामूलक मान लिया गया हो ? और धर्मशास्त्र से भिन्न स्मृतिः **रामायण, गीता, महाभारत** आदिः की कथा तो और निराली है ।

अब श्रुति अथवा वेद के स्वरूपावधारण का प्रयत्न करें । वैदिक 'वाङ्मय :ऋक्, यजुः, साम और अथर्वः के अन्तर्गत चतुर्धा हैं, जिन में से प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थराशियां आती हैं जिन्हें 'शाखा' संज्ञा दी गयी है । इन में प्रत्येक शाखा के अन्तर्गत अधोनिर्दिष्ट ग्रन्थराशि का समावेश है -

1. मन्त्र-संहिता
2. ब्राह्मण और अनुब्राह्मण (अनुब्राह्मण, **अष्टाध्यायी** 4.2.62)
3. आरण्यक
4. निषद् और उपनिषद् ('निषत्सूपनिषत्सु च,' **महाभारत**, शान्तिपर्व 47.26)
5. कल्प और अनुकल्प

शाखाओं के साथ-साथ कहीं-कहीं अनुशाखाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है । सम्भवतः उन के अन्तर्गत भी उक्त पञ्चविध विभाग प्राप्य हो । इस के अतिरिक्त प्रत्येक वेद के अपने उपवेद भी होते हैं । इस प्रकार वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत 5-5½ सहस्र ग्रन्थ आते हैं, जिन में से थोड़े ही बचे हैं, शेष कालकवलित हो चुके । वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत संहिताओं की संख्या कभी 1130/1131 तक पहुँची थी, किन्तु वल्लभाचार्य के काल से अब तक केवल 11 पूरी और एक अधूरी संहिता ही प्राप्त हैं । इन्हीं में चार को आजकल लोग वेद नाम से जानते हैं ।

अब वेद की इयत्ता पर विचार करें । पहले अथर्व वेद को वेद-संज्ञा नहीं दी गयी थी । कालान्तर में उस के ब्राह्मण, **गोपथ ब्राह्मण**, ने उसे वेद मान कर उस की उत्पत्ति की कथा दे दी । शेष तीन वेदों में **सामवेद-संहिता**, अर्थात् उपलब्ध **कौथुम-संहिता**, में 77 मन्त्रों को छोड़ कर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद के हैं । सम्भव है कि ये शेष मन्त्र भी ऋग्वेद की किसी अनुपलब्ध संहिता से आये हों । यह भी ध्यातव्य है कि शेष प्रचलित संहिताओं में सैकड़ों मन्त्र ऋग्वेद से उधार लिये गये हैं ।

पाञ्चरात्र की **ईश्वर संहिता** (1.18-24) के अनुसार ये सारे वेद विकार वेद हैं, मूल वेद एकायन वेद है (जिस का कोई पता नहीं है) । कुल्लूक ने **मन्वर्थमुक्तावली** (2.1) में हारीत का वचन उदाहृत किया है, जिस के अनुसार श्रुति दो प्रकार की है : वैदिकी और तान्त्रिकी ।

वैदिकी श्रुति अथवा वेद की पहचान भी सरल नहीं है। **आपस्तम्ब-परिभाषासूत्र** (1.33) के अनुसार "मन्त्रब्राह्मणयोर् वेद नाम धेयम्," अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं। इस सूत्र की व्याख्या में धूर्तस्वामी का कथन है कि कुछ लोग मन्त्रों को ही वेद मानते हैं। दयानन्द स्वामी केवल चार संहिताओं के मन्त्रों को वेद मानते हैं।

कुल्लूक वेद को विध्यर्थवादमन्त्रात्मक मानते हैं (**मन्वर्थ०** 2.6)। कुमारिल (**तन्त्र वार्तिक** 1.2.1) और मेधातिथि (**मनु**. 2.6) के अनुसार वेद विध्यर्थवाद मन्त्रनामधेयात्मक है। सायण ऋग्भाष्य भूमिका में ब्राह्मण के दो भेद करते हैं- विधि और अर्थवाद। वे उपनिषद् को भी अज्ञातज्ञापक विधि मानते हैं, जबकि पूर्वमीमांसा उसे अर्थवाद मानती है।

कात्यायन-श्रौतसूत्र और **पारस्कर-गृह्य सूत्र** (2.6.5) के अनुसार 'विधिर्, विधेयस्, तर्कश् च वेदः'। विधि-ब्राह्मण, विधेय-मन्त्र, और तर्क-कल्पसूत्र (भर्तृयज्ञ), मीमांसा (कल्पतरुकार), न्याय और मीमांसा दोनों (विश्वनाथ)।

पारस्कर-गृह्य सूत्र (2.6.6) के अनुसार कोई कोई षडङ्ग (छह वेदांगों) को भी वेद मानते हैं। **वायु पुराण** (1.5.13) में आता है -

ऋचो, यजूंषि, सामानि, ब्रह्मणोऽङ्गानि च श्रुतिः

जीवगोस्वामी (**तत्त्व सन्दर्भ** (अच्युत ग्रंथमाला, पृ. 29) इतिहास-पुराण को भी वेद मानते हैं। **छान्दोग्योपनिषद्** (7.1.2.4) में उन्हें पाँचवां वेद कहा गया है।

ब्राह्मणों (**शतपथ,** 13.4.3.6-14;) (**गोपथ.**1.1.10; 1.2.21; 1.5.10) और **आश्वलायन-श्रौत सूत्र** (10.7) में इतिहास वेद, पुराण वेद, सर्प-वेद, पिशाच वेद, असुर-वेद का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्हें अहिर्बुध्न्य संहिता (12.4) और सायण (ऋग्भाष्य भूमिका) उपवेद की संज्ञा देते हैं।

जयन्त भट्ट (**न्याय मंजरी,** प्रमाण प्रकरण, 1936, पृ. 240) के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं : श्रूयमाण और अनुमीयमान। वे इन में से एक को श्रुति कहते हैं और दूसरे को स्मृति। इस प्रकार स्मृति भी वेद संज्ञा से मण्डित हुई।

वेद-शाखाओं के विषय में एक तथ्य विशेष रूप से ज्ञातव्य है। प्राचीन ग्रन्थों में कतिपय विचित्र शाखाओं की सूचना प्राप्त होती है जो चौंकाने वाली लगती है। पहले कभी सांख्य श्रुत्यात्मिका कापिल-शाखा हुआ करती थी जिसकी चर्चा डॉ. रघुवीर ने किसी लेख में की है। वर्तमान **ऋग्वेद-संहिता** (10.27.16) में कपिल ऋषित्वेन गृहीत पाये जाते हैं और ऋषि मन्त्र-द्रष्टा कहे ही गये हैं। **महाभारत** आदि में सांख्य श्रुति का यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। अज्ञात कर्तृक **प्रपञ्चहृदय** (पृ. 19) में किसी यजुर्वेदीय तुरुष्कशाखा की चर्चा आती है।

तर्क ताण्डव (प्रथम परिच्छेद, पृ. 255) में किसी तुरुष्कागम का नाम-सङ्कीर्तन प्राप्त होता है। गुणरत्न (**तर्क-रहस्य दीपिका**, पृ. 20) में तुरुष्कों के सृष्टि-विषयक मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि तुरुष्क गोस्वामी नाम के किसी दिव्यपुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। ए. एल. बाशम के अनुसार यहाँ 'तुरुष्क' शब्द से ईसाई विवक्षित है और गोस्वामी शब्द ईसा की ओर इङ्गित करता है। किन्तु यहाँ मुहम्मद साहेब भी अभिप्रेत हो सकते हैं, जिन्हें सूफियों के अनुसार अल्लाह ने नूर, ज्योतिर्मय पुरुष, के रूप में उत्पन्न कर के उन्हीं से सृष्टि की रचना की। गुणरत्न का काल 1343-1418 ई. है और उस का कार्य-क्षेत्र गुजरात और राजस्थान बतलाया जाता है।

वैसे **मञ्जु श्री सूत्रकल्प** आदि में तुरुष्कों की चर्चा इस्लाम के प्रवर्तन के पहले से प्राप्त होती है। **ऋग्वेद** (8.46.32) में 'तरुक्ष' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है, जो या तो किसी दास के लिए प्रयुक्त हुआ है अथवा जिस का अर्थ ही दास होता है। अस्तु, अकबर के युग में प्रणीत **अल्लोपनिषद्** यहाँ विचार-पक्ष में बलात् आ जाती है।

एक अन्य चौंकाने वाली वेद-शाखा-निमित्त-शाखा की सूचना हमें अष्टम् शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित के **तत्त्वसंग्रह** में प्राप्त होती है। यह शाखा बुद्ध प्रशंसिनी और ब्राह्मणों द्वारा अधीयमान बतायी जाती है। **तत्त्वसंग्रह** (3510-3515) प्रसङ्गतः, **सुत्तनिपात** (529) से पता चलता है कि श्रमणों का भी कोई वेद था।

वेदानि विचेय्य केवलानि समणानं यानि प 'अत्थि ब्राह्मणानं।

यहाँ एक विचार सहसा कौंधता है। **भागवत** आदि पुराणों में बुद्ध को विष्णु के अवतारों में परिगणित किया गया है। शङ्कर ने भी बुद्ध की अवतार-रूप में ही स्तुति की है (**दशावतार स्तोत्र**-9)। बुद्ध के अवतारत्व का प्रेरणा-स्रोत कहीं निमित्त शाखा ही तो नहीं है? **स्कन्द पुराणान्तर्गत सूत संहिता** (यज्ञ वैभव खण्ड 20.16) में बुद्धागम को वेद-मूलक बतलाया गया है। आश्चर्य है कि बौद्ध दर्शन के पुरातन आलोचक (उदयन, जयन्त प्रभृति) इस तथ्य पर मौन हैं, इस का न तो अपलाप करते हैं और न स्वीकार हैं।

कहते हैं कि वेद मन्त्रों का प्रादुर्भाव अभी बन्द नहीं हुआ है। वासिष्ठ-गणपति मुनि का दावा है कि उन के शिष्य ब्रह्मर्षि दैवरात पर सैकड़ों नये वेद मन्त्र प्रादुर्भूत हुए थे जिन के वे प्रत्यक्ष साक्षी हैं। वस्तुतः गुरु ने ही शिष्य-दृष्ट मन्त्रों का संग्रह कर के उन पर **वासिष्ठान्वय-भाष्य** रचा और उस संग्रह को भाष्य-सहित **छन्दो दर्शनम्** शीर्षक से भारतीय विद्या भवन, बम्बई, से 1968 में प्रकाशित भी

कर दिया। उस के प्राक्कथन–लेखक हैं आर. आर. दिवाकर, भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तर प्रदेश, जिन्हों ने पण्डितों से इन नये मन्त्रों की परीक्षा कराकर उन का अभिनव वेद मन्त्रत्व घोषित किया। गुरु ने भूमिका में लिखा है कि एक बार समाधिस्थ शिष्य के मुख से मन्त्रों की झड़ी लगने लगी। गुरु ने पहले तो ध्यान नहीं दिया, किन्तु बाद में उन की समझ में आया कि नूतन वेद मन्त्रों का उच्चारण हो रहा है। तब उन्होंने शिष्य के मुख से निर्गत शेष मन्त्र लिख लिये। अनृषि गुरु द्वारा शिष्य के ऋषित्व की घोषणा और शिष्य के द्वारा 'दृष्ट' मन्त्रों पर गुरु द्वारा भाष्य-लेखन की यह प्रथम घटना है। खेद है कि **छन्दो दर्शन** पर कोई कार्य शायद अभी तक नहीं हुआ है।

अब वेद की ईदृक्ता पर किञ्चिन् विचार करलें। इस सन्दर्भ में मार्के की बात यह है कि हमारे पुराने दार्शनिक वेदों के सम्बन्ध में हवाई कल्पनाओं का तूमार बाँधने में पटु हैं, किन्तु वे जानने की चेष्टा करते नहीं पाये जाते कि वेद अपने विषय में स्वयं क्या कहते हैं। बीसियों वेद-मन्त्रों में स्पष्ट घोषणा है कि ऋषियों, कवियों, विप्रों ने नये-नये मन्त्र स्वयं गढ़े हैं। एक मन्त्र (ऋ. 1.61.4) में आता है कि मन्त्र वैसे ही गढ़ा गया जैसे बढ़ई रथ गढ़ता है। वस्तुतः मन्त्र-रचना-प्रसङ्ग में वेद में 'तक्ष,' 'जन्' 'सृज्,' 'कृ' जैसी धातुओं का खुल कर प्रयोग हुआ है, जिन से वेद के रचे हुए होने के विषय में कोई शङ्का नहीं रह जाती। इस प्रकार वेद-नित्यतावाद वेद से ही खण्डित हो जाता है।

वेद में ऐसे सङ्केत भी मिल जाते हैं कि ऋषियों ने अनेक सत्य मन अथवा हृदय की आँखों से देखे–'अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना' (ऋ. 4.48.6), 'तं पाकेन मनसा अपश्यम्' (ऋ. 10.114.4), 'हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा' (ऋ. 10. 129.4), 'हृदा पश्यन्ति मनसा मनीषिणः' (ऋ. 10.177.1), आदि-आदि। **तैत्तिरीयारण्यक** (2.9, पृ. 168) के अनुसार मन्त्र तपस्यमान् ऋषियों को स्वतः उपलब्ध हो गये, और यही ऋषियों का ऋषित्व है (अजान् ह वै पृश्नीस तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्। त ऋषयोऽभवस्, तद् ऋषीणामृषित्वम्।) यास्क (2.11) का प्रसिद्ध वाक्य है - 'ऋषिर् दर्शनात्, सोमान ददर्श, इत्यौपमन्यव' (दर्शन से ऋषि होता है, जिस ने मन्त्रों का दर्शन किया, ऐसा उपमन्यु के अनुयायी मानते हैं)। उन्हीं का दूसरा वाक्य (1.20) है-'साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयो बभूवु' (साक्षात्कार ऋषियों का वैशिष्ट्य है)। कतिपय मन्त्रों में मन्त्र-रचना यदि श्रम और तप का परिणाम बतलायी गयी है तो कतिपय मन्त्रों में मन्त्र को अनायास प्रादुर्भूत घोषित किया गया है। एक मंत्र (ऋ. 7.94.1) है कि स्तुति उसी प्रकार उत्पन्न हुई जिस प्रकार बादल से वृष्टि–

इमं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी ! पूर्व्यं स्तुतिः अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि ।

तात्पर्यतः, श्रम और तपस्या, चिन्तन और मनन के फलस्वरूप वैदिक कवियों को मन्त्र अथवा मन्त्रार्थ का स्वतः स्फुरण, प्रतिभान होता है । श्रुति में ऐसे ढेर सारे प्रतिभान उपनिबद्ध हैं । किन्तु इतने से श्रुति प्रमाण नहीं हो जाती । प्रतिभान उच्च कोटि के भी होते हैं और निम्न कोटि के भी । इसके अतिरिक्त, भ्रामक प्रतिभानों की भी कमी नहीं । विलियम जेम्स लिखता है कि एक व्यक्ति लिखता है कि व्यक्ति को हँसाने वाली गस (लॉफिंग गैस) के प्रभाव में ऐसा अनायास निश्चयात्मक अनुभव होता था कि उस पर सृष्टि का रहस्य पूरा-पूरा खुल गया है । बाद में यह अनुभव विस्मृत हो जाता था । एक बार वह किसी प्रकार अपना अनुभव\अनुभव-काल में ही लिपिबद्ध कर डालने में सफल हो गया । व्युत्थानावस्था में उसे अपना लेख इस आशय का मिला : 'पेट्रोलियम की गन्ध चारों ओर फैल रही है' (ए स्मैल ऑफ पेट्रोलियम प्रिवेल्स थ्रू आउट) कौन जाने किसी-किसी सोमपायी को कभी-कभी कुछ इसी प्रकार के अनुभव होते हों ! प्रत्यक्षाद्यनपेक्ष प्रतिभान लिङ्गाभासन होने से स्वतन्त्र रूप से प्रमा की पदवी नहीं प्राप्त कर सकता । योगि-ज्ञान भी भावना-बलज होने और भावना स्मृतिरूप होने से प्रमा के स्तर तक नहीं पहुँचती, कम से कम स्वतन्त्र रूप से तो बिल्कुल नहीं । पूर्वमीमांसकों के इस प्रकार के निष्कर्षों में पर्याप्त बल प्रतीत होता है । और प्रतिभान भी बौद्धिक स्तर के अनुरूप ही होता है ।

अस्तु, मन्त्र-साक्षात्कारवाद से भी वेदों की अनित्यता का पक्ष खण्डित नहीं होता । उक्त वाद मंत्रों अथवा मन्त्रार्थों के स्वत स्फुरण की घटना की ओर सङ्केत करता है, जो कवियों की जानी-पहचानी घटना है । वस्तुतः वेद-मन्त्रों के प्रादुर्भाव के जो विवरण, निरुक्त की भाषा में 'निदान', यास्क और शौनक में प्राप्त होते हैं उन से स्पष्ट हो जाता है कि मंत्र बहुधा लौकिक कारणों से, लौकिक रीति से ही अस्तित्व में आते हैं । अनेक पुराणों (यथा वायु 1.59.60-61) के अनुसार वेद-मन्त्रों की उत्पत्ति असन्तोष, भय, दुःख, मोह, और शोक से हुई है ।

असन्तोषाद्, भयाद्, दुःखान्, मोहाच्, छोकाच् च पञ्चधा
मन्त्राः प्रादुर्भवन्त्यादौ पूर्वमन्वन्तरेण ह ।

बृहद्देवता (1.34-40) में मन्त्रों के बीस से अधिक भेद बतलाये गये हैं जिन से उन की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश पड़ता है । वे हैं- स्तुति, प्रशंसा, निन्दा, शोक, स्पृहा, आशीर्वचन, कत्थना (डींग मारना) प्रार्थना, प्रश्न, आह्वान, पहेली, नियोग, अनुयोग, श्लाघा, विलाप, आख्यान, वार्तालाप, पवित्र आख्यान, कामासक्ति, नमस्कार, अवरोध, सङ्कल्प, प्रलाप, प्रतिवचन, प्रतिषेध, उपदेश, प्रमाद, अपह्नव,

(प्रत्याख्यान), आमन्त्रण, उपद्रव, विस्मय, आक्रोश, अभिष्टन (स्तवन), क्षेप (बुरा-भला कहना), शाप आदि-आदि। **निरुक्त** (7.3) में भी इन में कुछ भेदों का उल्लेख आता है। इस के अतिरिक्त **निरुक्त** (2.7) से ज्ञात होता है कि "गाधा भवत," (ऋ. 3.33.5) द्वारा विश्वामित्र ने नदी की स्तुति की। इसी प्रकार **निरुक्त** (5.2) के अनुसार **ऋग्वेद** (1.179.4) में ऋषि-पुत्री के विलाप को मन्त्र बद्ध किया गया है, और **निरुक्त** (4.6) के अनुसार ऋ. (1.105.8)

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माऽऽध्यः स्तोतारं मे शतक्रतो!
वित्तं मे अस्य रोदसी।।

कूप में गिरे हुए त्रित ऋषि का आर्तनाद है। **बृहददेवता** (550-81) में श्यावाश्व ऋषि की कथा दी हुई है। वे किसी राजर्षि कन्या की आसक्ति और अभीप्सा में ऋ. (5.61) के दस मन्त्र रच गये और फलतः उक्त कन्या की प्राप्ति भी हो गयी।

अब यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि सभी वेद समान रूप से और सब के लिए पवित्र और श्रद्धेय नहीं माने जाते। यदि **छान्दोग्योपनिषद्** (1.1.2) में साम को ऋचाओं का रस कहा गया है (ऋचः साम रसः) और **गीता** (19.22) में कृष्ण कहते हैं "मैं वेदों में साम वेद हूँ" (वेदानां साम वेदोऽस्मि), तो दूसरी ओर **मनु स्मृति** (4.123-123) का आदेश है कि जहाँ सामगान हो रहा हो वहाँ ऋग्वेद और यजुर्वेद का अध्ययन कदापि नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऋग्वेद दैव है और यजुर्वेद मानुष, किन्तु सामध्वनि पित्र्य होने के कारण अपवित्र है -

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन
वेदस्याधीत्य वाऽप्यन्तमारण्यकमधीत्य च
ऋग्वेदो देवदैवत्यो, यजुर्वेदस् तु मानुषः,
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्, तस्मात् तस्याशुचिर् ध्वनिः।।

विष्णुपुराण (2.11.13) में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ऋङ्मय और स्थिति-काल में विष्णु यजुर्मय होते हैं, किन्तु रुद्र प्रलय के निमित्त साममय होते हैं, अतः सामध्वनि अपवित्र है—

सर्गादौ ऋङ्मयो ब्रह्मा, स्थितौ विष्णुर् यजुर्मयः;
रुद्रः साममयोऽन्ताय, तस्मात् तस्याशुचिर् ध्वनिः।।

इस सन्दर्भ में ऋग्वेद की चार वसिष्ठद्वेषिणी ऋचाओं (3.53.21-24) की स्थिति सब से स्तब्धकारी है। ये अभिशाप हैं जो विश्वामित्र ने अपने शत्रु वसिष्ठ को दिये थे। ये मन्त्र अर्थ सहित आगे दिये जाते हैं—

इन्द्रोतिभिर् बहुलाभिर् नो अद्य याच् छ्रेष्ठाभिर् मघवञ्छूर ! शूर ! जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस् पदीष्ट यमु द्विष्मस् तमु प्राणो जहातु ।।
परशुं चिद् वि तपति शिम्बलं चिद् वि वृश्चति ।
उखा चिदिन्द्र ! येषन्ती प्रयस्ता फेनमस्यति ।।
न सायकस्य चिकिते जनासो । लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः
नावाजिना वाजिनं हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान् नयन्ति ।।
इम इन्द्र ! भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर् न प्रपित्वम्
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परि णयन्त्याजौ ।।

अर्थ – 'हे शूर ! हे मघवन् ! हम लोग शत्रु-हिंसक हैं । आज हमें तुम प्रचुर और श्रेष्ठ सुरक्षा प्रदान कर आनन्दित करो । जो हम से द्वेष करता है वह नीचा देखे और पतन को प्राप्त हो । हम जिससे द्वेष करते हैं उसे प्राण परित्याग करें । हे इन्द्र ! जैसे कुठार को पा कर वृक्ष प्रतप्त होता है (वैसे ही हमारे शत्रु प्रतप्त हों), जैसे शाल्मली-कुसुम अनायास ही (वृन्त से) च्युत हो जाता है (वैसे ही हमारे शत्रु जीवन से च्युत हों), जैसे प्रहत, जलस्रावी हाँडी फेन उद्गीर्ण करती है (वैसे ही हमारे शत्रु फेन उद्गीर्ण करें) । हे (वसिष्ठ पक्षीवर्ती) लोगो ! तुम (विश्वामित्र के) अवसानकारी (मंत्रबल) को नहीं जानते (अतएव तपस्या की रक्षा के) लोभी (चुपचाप बैठे) ऋषि को पशुवत् ले जा रहे हो । प्राज्ञ पुरुष मूर्ख को (पराजित कर के) हास्यास्पद नहीं बनाते, और न घोड़ों के सामने गधा लाते हैं (अर्थात् वसिष्ठ मुझ विश्वामित्र के साथ स्पर्द्धा करने के योग्य नहीं है) । हे इन्द्र ! भरत के वंशज अपगमन (पार्थक्य) जानते हैं, गमन (एकता) नहीं जानते (अर्थात् वसिष्ठ और उन के पक्षधरों से उन का मेल नहीं है) संग्राम में सहज शत्रु के समान उन लोगों के प्रति वे अश्व हाँकते और धनु धारण करते हैं ।'

बृहद्देवता (4 117-120) में लिखा है –

परास् चतस्रो यास् त्वत्र वसिष्ठ द्वेषिण्यः स्मृताः
विश्वामित्रेण ताः प्रोक्ता, इति स्मृताः ।
द्विषद्द्वेषास् तु ताः प्रोक्ता विद्याश् चैवाभिचारिकाः ।।
वासिष्ठास् तान् न श्रृण्वन्ति, तदाचार्यकसम्मतम् ।
कीर्तनाच् छ्रवणाद् वाऽपि महादोषश् च जायते ।।
शतधा भिद्यते मूर्धा कीर्तितेन श्रुतेन वा,
तेषां बाला प्रपीयन्तेः तस्मात् तास् तु न कीर्तयेत् ।।

अर्थ – 'परवर्ती चार ऋचाएँ (ऋ. 3.53.21-24) वसिष्ठ द्वेषिणी हैं, ऐसा मानने की परम्परा है । वे विश्वामित्र-प्रोक्त हैं और उन्हें परम्परया अभिशाप

माना जाता है। वे शत्रुओं के लिए हानिकर कही जाती हैं और आभिचारिक मन्त्र मानी जाती हैं। वसिष्ठ के वंशज उन्हें नहीं सुनते। उन के आचार्य इस विषय में सहमत हैं। उन के पाठ और श्रवण से महान् दोष उत्पन्न होता है। उन का पाठ और श्रवण करने पर सिर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं। (पाठकों और श्रोताओं के) बाल-बच्चे नष्ट हो जाते हैं। अतः उन का पाठ नहीं करना चाहिए।'

निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य कापिष्ठल वासिष्ठ थे। वे लिखते हैं, जिस निगम में यह (लोध) शब्द है (अर्थात् **ऋक्** 3.53.23) वह वसिष्ठ-द्वेषिणी ऋचा है, और मैं कापिष्ठल वासिष्ठ हूँ। अतः मैं उस का निर्वचन नहीं करता हूँ।' (यस्मिन् निगम एष शब्द सा वसिष्ठद्वेषिणी ऋक्, **अहं च कापिष्ठलो** वासिष्ठः। अतस् तां न निर्ब्रवीमीति)। (**निरुक्त वृत्ति** 4.14) वस्तुतः **अथर्ववेद** में ही नहीं, **ऋग्वेद** में भी आभिचारिक मन्त्रों के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। दशम मण्डल का 145 वाँ सूक्त सपत्नीबाधन-सूक्त है और 166 वाँ सपत्नघ्न-सूक्त, शत्रुओं के हनन का सूक्त।

ब्राह्मण ग्रन्थ भी इस प्रकार के विधानों से अछूते नहीं हैं। **षड्विंश ब्राह्मण** (3.8) का तो विधि वाक्य ही है, 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्,' अर्थात् अभिचार करते हुए श्येन नामक याग से यजन करे। यह यज्ञ शत्रु को मारने के लिए किया जाता है। शबर स्वामी ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (**मीमांसा सूत्र** 1.1.2) के भाष्य में श्येन याग को अधर्म सिद्ध करने के लिए एड़ी-चोटी का बल लगा दिया है। उन का तर्क है कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' यह विधिवाक्य नहीं है, बल्कि इस का तात्पर्य बस इतना ही है कि यदि कोई इस प्रकार की हिंसा करना चाहता हो तो उस का एक उपाय श्येन याग भी है। किन्तु इस भाष्य पर **श्लोक वार्तिक** (204-274) में कुमारिल भट्ट ने श्येनयाग का धर्मत्व स्थापित किया है और भट्ट उंवेक ने श्लोक 229 की व्याख्या में कुमारिल से सहमति व्यक्त करते हुए भाष्य को उपेक्षणीय बतलाया है।

श्रौत यज्ञों में प्रयाज नामक याग के पश्चात् जो आशीर्वचन **यजमान** पढ़ता है उस में भी शत्रु के प्रति दुर्भावना का पूरा सङ्केत प्राप्त होता है। प्रथम प्रयाग के पश्चात् यजमान पढ़ता है: मेरे एक पुत्र हो, और जो जो मुझ से द्वेष करता है या मैं जिससे द्वेष करता हूँ उस के एक पुत्री हो (एको मम, एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः) (**शतपथ ब्राह्मण** 1.5.4.12; **कात्यायन श्रौत सूत्र** 3.3.3) **आपस्तम्ब श्रौत सूत्र** 4.9.4)। द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ के अन्त में संख्या उत्तरोत्तर दो, तीन, चार के रूप में बढ़ती जाती है और पञ्चम प्रयाग के अन्त में यजमान अपने लिए पाँच पुत्र और शत्रु के लिए 'न तस्य किञ्चन' (उसके कुछ न हो) पर आशीः समाप्त करता है।

मैं यहाँ वेदों के कृष्ण पक्ष का विवरण देने नहीं चला हूँ, और न मेरे ऊपर दिये गये विवरण का यह तात्पर्य है कि वेदों में बस यही सब भरा है। कदापि नहीं। उन में विश्वविद्या-सम्बन्धी सूक्त आश्चर्यचकित कर देते हैं। कई सूक्तों में विश्वात्म दर्शन के ओजस्वी उदाहरण सामने आते हैं। अस्यवामीय-सूक्त (ऋ. 1.164) का रहस्यवाद, वाक्-सूक्त (ऋ. 10.125) की सर्वात्म दृष्टि, शान्ति-सूक्त (ऋ. 7.35 आदि; यजुर्वेद 36.17) का विश्व शान्तिवाद, संज्ञान-सूक्त (ऋ.10.191) का समतावाद,यजुर्वेद (36.18) का विश्वमैत्री वाद, अथर्ववेद (10:2) के पुरुष-सूक्त के मानववाद, यजुर्वेद (34) के शिव सङ्कल्प-सूक्त का मनोविज्ञान, आरण्यकों और उपनिषदों के ब्रह्म विज्ञान आदि-आदि पर भारतीय जितना गर्व करें उतना कम है। किन्तु इस निबन्ध में जो कुछ कहा जा रहा है उस का सम्बन्ध श्रुतिप्रामाण्याप्रामाण्यचर्चा से है।

हम दिखलाना चाहते हैं कि श्रुति की प्रकृति ही ऐसी है कि धर्म में उस के प्रामाण्याप्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए था।

पूर्वमीमांसा केवल प्रवृत्ति-निवृत्ति-विधि को मूल वेद मानती है और इस प्रकार व्यवहारतः संहिता और ब्राह्मण को ही प्रमाणत्वेन स्वीकार करती है। उस की दृष्टि में आरण्यक और उपनिषद् अर्थवाद कोटि में गण्य हैं। वह मन्त्र संहिता में भी सृष्टि विद्या आदि दार्शनिक-तत्त्वज्ञानीय महत्त्व के सूक्तों और मन्त्रों को अर्थवाद कह कर डाल देती है। किन्तु संहिताओं में विधि-वाक्य उत्सर्ग नहीं, अपवाद के रूप में ही दो-चार प्राप्त होते हैं, जैसे 'कृषि मित् कृषस्व' (खेती-बाड़ी करो)। वस्तुतः ब्राह्मण भाग में भी विधि-वाक्यों की संख्या पर्याप्त नहीं है। विधि वाक्य तो धर्मशास्त्र में ही अधिक मिलते हैं। अस्तु। पूर्वमीमांसा में आरण्यक और उपनिषद् की पूर्ण उपेक्षा हुई है और मन्त्र संहिता का उपयोग भी कम हुआ है। उस में ब्राह्मण-वाक्यों के प्रयोग का ही बाहुल्य है।

वेदान्त में आरण्यक और उपनिषद् ही प्रायः प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि उसे मंत्र-संहिता और ब्राह्मण-भाग के श्रुतित्व से विप्रतिपत्ति नहीं है तथापि वह उन्हें अपवादतः ही प्रयोग में लाता है। यहाँ तक कि यदि कोई वेद मन्त्र उपनिषद् में उदाहृत हुआ है तो शङ्कर आदि उस का औपनिषद् सन्दर्भ ही देना पसन्द करते हैं। जैसे ऋग्वेद (1.164.20) का मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' कई उपनिषदों में उदाहृत हुआ है, किन्तु शंकर आदि ऋग्वेद की उपेक्षा करते हुए उसे उपनिषद् का ही बतलाते हैं। तथापि उन्हें संहिता और ब्राह्मण के महत्त्व से विप्रतिपत्ति नहीं है। धर्म कर्त्तव्य और अतीन्द्रिय विषयों में श्रुतिप्रामाण्य, अर्थात् संहिता और ब्राह्मण का प्रामाण्य अक्षुण्ण है। कर्त्तव्य विषय में तो अनुभव की अपेक्षा न होने

से श्रुति का **आश्रय** लेना ही पड़ता है (कर्त्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्ति,श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात् । न चातीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभते । **शारीरक भाष्य**) ।

तान्त्रिकी श्रुति, अर्थात् आगम की बात छोड़िए, वैदिकी श्रुति में ही आदि काल से एक विलक्षण, आपाततः अन्तर्विरोध की स्थिति पायी जाती है । याज्ञिकी, शुक्ल यजुर्वेद (माध्यन्दिन-वाजसनेयी) संहिता में ब्रह्मविद्यात्मिका **ईशावास्योपनिषद्** संहिता के अन्तिम 40 वें अध्याय के रूप में स्थित है । दाराशुकोह ने अपनी 50 उपनिषदों की **सिर्रे अक्बर**-शीर्षकाङ्कित फारसी व्याख्या में उसी संहिता के अध्याय 16,31 (पुरुष-सूक्त), 32 और 34 (शिवसङ्कल्प-सूक्त) के प्रथम छह मन्त्रों को भी क्रमशः **शतरुद्रिय-**, **पुरुष सूक्त**, **तदेव**- अथवा **सर्वमेध**-, तथा **शिव-सङ्कल्प**-संज्ञक उपनिषदें मान कर उनकी व्याख्या की है । मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित 188 उपनिषदों के संग्रह, **उपनिषत्संग्रह**, भाग 2 की 45 वीं उपनिषद् शिवसङ्कल्पोपनिषद् ही है । **कात्यायन-सर्वानुक्रमणी** (ऑक्सफर्ड, 1886), पृ. 12-13 और **बृहद्देवता** 4.63 के अनुसार **ऋग्वेद** के प्रथम मण्डल का 191 वाँ सूक्त भी एक उपनिषद् है ।

इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी उपनिषदें बिखरी हुई हैं । **बृहदारण्यकोपनिषद्** ब्राह्मण भी है, आरण्यक भी है, और उपनिषद् भी है । वह **शतपथ ब्राह्मण** के अन्तिम 14 वें काण्ड के अन्तिम छह अध्यायों के अतिरिक्त कुछ नहीं है । **सामवेद** की कौथुमी शाखा के ब्राह्मण, **छान्दोग्यब्राह्मण** के कुल 40 भागों में से प्रथम 25 को **पंचविंश ब्राह्मण** अथवा **ताण्ड्यमहाब्राह्मण**, भाग 36-30 को **षड्विंशब्राह्मण**, भाग 31-32 को **मन्त्रब्राह्मण** और भाग 33-40 को **छान्दोग्योपनिषद्** कहते हैं । सामवेद की जैमिनीय शाखा के **तलवकार-ब्राह्मण** के पाँचों अध्यायों के चतुर्थ के अन्तर्गत **केनोपनिषद्/तलवकारोपनिषद्** है और अन्तिम अध्याय का नाम आर्षेय ब्राह्मण है । **गोपथ ब्राह्मण** पूर्व भाग, प्रथम प्रपाठक, कण्डिका 16-30 को **प्रणवोपनिषद्** और कण्डिका 31-38 को **गायत्र्युपनिषद्** अथवा, अधिक सही नाम दें तो **सावित्र्युपनिषद्** कहते हैं । एक सौ बीस उपनिषदों के निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित संग्रह में 78 वीं **सावित्र्युपनिषद्** भी सामवेदीय उपनिषद्-ब्राह्मण के चौथे अध्याय की 27-28 से प्रायः त्यों की त्यों ली गयी है ।

उक्त अन्तर्विरोध किसी सीमा तक तो परिहार्य प्रतीत होता है । संहिताओं में प्रतिपादित देवता-तत्त्व, यज्ञ-तत्त्व, और विश्व-तत्त्व को ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों ने अपनी-अपनी रीति से लिया है । ब्राह्मणों में आधियाज्ञिक दृष्टि का, आरण्यकों में आधिदैविक दृष्टि का, और उपनिषदों में आध्यात्मिक दृष्टि का

प्राधान्य प्राप्त होता है। बानगी लें। ब्राह्मणों में यज्ञ प्रायः द्रव्यमय है, आरण्यकों में प्रतीकमय, और उपनिषदों में ज्ञानमय-अध्यात्ममय। **बृहदारण्यक,** जो ब्राह्मण और उपनिषद् सब कुछ है, उस का आरंभ ही अश्वमेध-यज्ञ के ब्राह्माण्डीकरण से होता है। इस प्रकार ये तीनों दृष्टियाँ एक सीमा तक एक ही दृष्टि के तीन विकास-सोपान कही जा सकती हैं। और उच्चतम सोपान का प्रतिनिधित्व उपनिषदें करती हैं।

वस्तुतः एक ओर मन्त्र और ब्राह्मण और दूसरी ओर आरण्यक और उपनिषद् के बीच जो विरोधाभास है वह यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के रूप में उपलब्ध **ईशावास्योपनिषद्** में ही बीज रूप से विद्यमान प्रतीत होता है। उस में विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति, के विरोधि-समागम स्पष्ट हैं। **मुण्डकोपनिषद्** में यही विरोधाभास परा और अपरा विद्या के नाम से प्रकट हुआ है। इस प्रक्रिया की चरम परिणति सत् और सत्य में से प्रत्येक के अन्तर्गत परमार्थ-व्यवहार-द्वन्द्व के रूप में पायी जाती है। यही द्वन्द्व आगे चल कर सांख्य-योग-द्वन्द्व का रूप ले लेता है। साङ्ख्य ज्ञान-मार्ग है और योग कर्म-मार्ग। इन का द्वन्द्व **गीता** में खुल कर सामने आया है। **महाभारत** (शान्ति पर्व 348.81-82) में इन्हें वेद और आरण्यक से आङ्गिक सम्बन्ध-सूत्र में बँधा बतलाया गया है -

एवमेकं साङ्ख्ययोगं वेदारण्यकमेव च
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ॥

अस्तु, वेदार्थ-मीमांसा में भी उक्त द्वन्द्व परिलक्षित होता है। जैमिनी के लिए संहिता और ब्राह्मण किन्तु बादरायण के लिए आरण्यक और उपनिषद् अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। तथापि ध्यातव्य है कि बादरायण (ब्र.सू. 1.2.28.31; 4.3.11-14; 4.4.5) जैमिनि को ब्रह्मवादी बतलाते हैं। वस्तुतः बादरायण और जैमिनि दोनों एक-दूसरे को उदाहृत करते पाये जाते हैं और ऐसे जैसे वे दोनों एक ही दर्शन-प्रस्थान के परस्पर किञ्चित् मतभेद रखने वाले दो प्रतिनिधि हों। बल्कि शङ्कर के साक्षात् शिष्य सुरेश्वर (**नैष्कर्म्यसिद्धि** 1.19) जैमिनि को ही **पूर्वमीमांसा-सूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** दोनों का प्रणेता मानते हैं। वस्तुतः **प्रपंचहृदय** (त्रिवेन्द्रम 1915, पृ.38-39), **सर्वसिद्धान्तसंग्रह** (1.15-17, 20-21), **प्रस्थान-भेद** (श्रीरङ्गम्,1912, पृ. 11-12), आदि के अनुसार वर्तमान द्वादशाध्यायी जैमिनीय **पूर्वमीमांसा सूत्र** और चतुरध्यायी बादरायणीय **ब्रह्मसूत्र** एक बृहत्तर विंशत्यध्यायी **मीमांसा सूत्र** के बचे हुए भाग हैं। दोनों के मध्य एक चतुरध्यायी **देवताकाण्ड** अथवा सङ्कर्षकाण्ड युगों से लुप्त था जो देवस्वामी के भाष्य के साथ मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा 1965 में प्रकाशित हुआ। यह काण्ड प्रायः जैमिनि-प्रणीत माना जाता है, किन्तु सर्वसिद्धान्त सग्रह (पृ.12) के अनुसार इस का प्रवर्तन सङ्कर्षण से हुआ है।

यह सम्पूर्ण विंशत्यध्यायी मीमांसा-सूत्र एक ही महाप्रस्थान का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता था। उस पर बोधायन-कृत कोटि। भाष्य का उल्लेख आता है (**प्रपञ्च हृदय**,पृ. 39) बाद में उपवर्ष आदि ने भी उसकी व्याख्याएं लिखीं। उक्त विंशत्यध्यायी के पूर्व भी **पूर्व** और **उत्तर मीमांसा सूत्रों** में चर्चित काशकृत्स्न, बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, कार्ष्णाजिनि नामक आचार्यों ने विंशत्यध्यायी सर्वाङ्गपूर्ण मीमांसासूत्र रचे थे।

द्वादशाध्यायी/षोडशाध्यायी **पूर्व मीमांसा** का विषय धर्म-जिज्ञासा है और चतुरध्यायी **उत्तर मीमांसा** अथवा वेदान्त का विषय ब्रह्मजिज्ञासा। शङ्कर (**शारीरक भाष्य** 1.1.1) इन्हें भिन्न दर्शन-प्रस्थान मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। किन्तु प्राचीनों की धारणा भिन्न थी। उन्हें दोनों की तात्त्विक एकता में सन्देह नहीं था। कुमारिल भट्ट को वेदान्त के बिना मीमांसा अधूरी लगती है। वह **मीमांसा-श्लोकवार्तिक** के आत्मवाद प्रकरण के अन्त में लिखता है-

इत्याह नास्तिक्य-निराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयस् तु बोधः प्रयाति वेदान्त-निषेवणेन ॥

अर्थात् शबर स्वामी ने तो केवल नास्तिक्य के लिए आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण उपस्थपित किये हैं, किन्तु यथार्थ आत्मबोध तो वेदान्त के सेवन से ही सम्भव है। कुमारिल ने **बृहट्टीका** (आनन्दानुभव की **न्यायरत्न दीपावली**, पृ. 361, में उदाहृत) में भी लिखा है-

द्वैतपक्षात् पराणुद्य बुद्ध्यशुद्धिसमाश्रयात्
परमात्मानमेवैकं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥

अर्थात् परमात्मा ही एकमात्र तत्त्व है, अद्वैत तत्त्व। वस्तुतः कुमारिल ने **तन्त्रवार्तिक** (3.1.13) में भी व्योमशरीर परमात्मा में आस्था प्रकट की है। प्रभाकर भी स्वीकार करते हैं कि शबर को अहङ्कार-ममकार से परे आत्मतत्त्व सर्वथा अभ्युपेत है, किन्तु इस प्रकार के ज्ञान का अधिकार मृदितकषायों को ही है और **पूर्वमीमांसा का प्रवर्तन** कर्मसङ्गियों के लिए हुआ है, अतः वे (शबर) विशुद्ध आत्मतत्त्व का विशेष निरूपण नहीं करते। (**बृहती** 1.1.5, पृ. 25.6) इसी प्रकार शङ्कर के ज्येष्ठ समसामयिक अथवा पूर्वज मीमांसक मण्डन मिश्र दोनों मीमांसाओं को साथ लेकर चलते हैं और पूर्वोत्तर संश्लिष्ट मीमांसा-परम्परा का परिचय हम ऊपर दे ही आये हैं।

इस विचारणा का मथितार्थ यह है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा काशकृत्स्न आदि से लेकर जैमिनि और बादरायण पर्यन्त सूत्रकारों-शास्त्रकारों और उपवर्ष आदि भाष्यकारों के साझे की खेती है, और यह भी कि उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त अपेक्षया उच्चतर भूमिकाप्राप्त जिज्ञासुओं-साधकों के लिए है।

सूत्र रूप में कहें तो बुभुक्षुओं/स्वर्गकामियों के लिए पूर्वमीमांसा और मुमुक्षुओं/अपवर्गेप्सुओं के लिए उत्तरमीमांसा, अर्थात् वेदान्त। सिद्धान्त यही है। व्यवहार में चाहे जितनी त्रुटियाँ देखने को मिलें।

इस पूरे निबन्ध का यह भी निष्कर्ष है कि श्रुतिप्रामाण्यवाद श्रुति-सिद्ध ही नहीं है, तर्क-सिद्ध तो क्या होगा।

42/59, रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
नरही, लखनऊ–226001

बौद्ध दर्शन या तत्त्वमीमांसीय अणुवाद

नारायणशास्त्री द्राविड़

भारतीय दर्शनों को प्राचीन काल से आस्तिक तथा नास्तिक इन दो विभागों में वर्गीकृत किया जाता रहा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त इन छः दर्शनों को आस्तिक तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्ध इन तीन दर्शनों को नास्तिक विभाग में प्राचीन परंपरानुसार समाविष्ट किया जाता रहा है। विचार कर देखने पर 'आस्तिक-नास्तिक' यह वर्गीकरण भारतीय दर्शनों को ठीक तरह से लागू होता नहीं प्रतीत होता। 'आस्तिक' शब्द का एक रूढ़ अर्थ 'ईश्वर की सत्ता मानने वाला' ऐसा है। इस अर्थ के अनुसार उक्त छः तथाकथित आस्तिक दर्शनों में एक न्याय और दूसरा योग इन दो को छोड़कर अन्य किसी दर्शन को 'आस्तिक' संज्ञा नहीं दी जा सकती। न्याय दर्शन ने विश्व के निर्माता के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है और योग दर्शन ने पुरुष की आध्यात्मिक प्रगति के सहायक एवं ज्ञानदाता तथा ज्ञान की पराकाष्ठा के रूप में ईश्वर की सत्ता का पुरस्कार किया है। सांख्य की विचार-प्रणाली में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। यही बात मीमांसा के चिन्तन में भी दिखाई देती है। अद्वैत वेदान्त आपाततः ईश्वरवादी प्रतीत होता है किन्तु वह वास्तव में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता (या वह ईश्वर की सत्ता को पारमार्थिक नहीं मानता)। परब्रह्म ही परमार्थतः सत् है, ईश्वर की सत्ता औपाधिक है ऐसा अद्वैत का वास्तविक मंतव्य है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त ही सही अर्थ में ईश्वर की सत्ता का पुरस्कारक है। इस प्रकार आस्तिक माने जाने वाले छः दर्शनों में से केवल दो ही दर्शन किसी तरह ईश्वरवादी कहलाने लायक हैं। अतः शेष दर्शनों का तथाकथित नास्तिक दर्शनों के साथ ही परिगणन करना होगा, यदि 'आस्तिक' शब्द का उक्त अर्थ लिया जाय।

'आस्तिक' शब्द का एक अन्य परंपरागत अर्थ "वेद-प्रामाण्य का पुरस्कार" है जो सभी छः दर्शनों को मोटे तौर पर लागू माना जा सकता है, क्योंकि ये सभी वेदों को स्वतःप्रमाण मानते हैं। वेद-वाक्यों को इन दर्शनों के ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है। नास्तिक माने जाने वाले चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन ही वेदों की भर्त्सना करते हैं जिससे उनको स्पष्टतया वेदाप्रामाण्यवादी कहा जा सकता है। लेकिन विचार कर देखने पर आस्तिक दर्शनों का वेद-प्रामाण्य-पुरस्कार केवल दिखावा है ऐसा प्रतीत होने लगता है। उदाहरण के तौर पर वेद-वाक्यों के विचारार्थ ही निर्मित मीमांसा-दर्शन को लें। क्या मीमांसा पूर्णप्रामाण्यपुरस्कारक है ? मीमांसा ने वेदों के विधि-निषेध वाक्य को ही

स्वार्थपरक माना है । देवता-सूचक मंत्रों तथा अर्थवादों को मीमांसा स्वार्थपरक न मानकर उन्हें विहित तथा निषिद्ध याग, हिंसा आदि क्रिया-कलापों के वर्णन तथा निन्दन मात्र के लिए प्रयुक्त मानती है । इस प्रकार वेदों का एक बहुत बड़ा अंश मीमांसा की दृष्टि से लगभग निरर्थक हो जाता है । उत्तरमीमांसा या अद्वैत वेदान्त के लिए ठीक इसके विपरीत वेदों के विधि-निषेधपरक वाक्य ग्राह्य न होकर अन्य प्रकार के (वस्तुस्थिति या सत्य तत्त्व के) दर्शनपरक अर्थवाद सदृश वाक्य ही प्रमाण मानने लायक होते हैं । समग्र वेद न पूर्वमीमांसा के लिए न उत्तरमीमांसा के लिए ही प्रमाण है । न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग वेद-प्रामाण्य का पुरस्कार अवश्य करते हैं और प्रसंगवश अपने विभिन्न सिद्धांतों के समर्थनार्थ वेदवाक्यों को उद्धृत भी करते हैं, लेकिन इन दर्शनों का एक भी सिद्धांत ऐसा नहीं है जिसकी स्वीकार्यता वेद-वाक्यों के प्रामाण्य पर आधारित हो । अलौकिक तथ्यों जैसे—पुनर्जन्म, मृत्यूत्तर आत्मा का अस्तित्व आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दर्शनों को वेदों की शरण ज़रूर लेनी पड़ती है । लेकिन इन तथ्यों की सत्यता प्रस्थापित करने के लिए अनुमान प्रमाण का भी उपयोग किया जा सकता है । यही कारण है कि वेदों की प्रमाणता स्वीकार न करने वाले बौद्ध, जैन जैसे दर्शन भी पारलौकिक जीवन तथा पुनर्जन्म की सत्यता स्वीकार करने से नहीं हिचकिचाते ।

'आस्तिक' शब्द का एक तीसरा अर्थ : 'अलौकिक तथ्यों का स्वीकार' : तथाकथित नास्तिक दर्शनों को भी लागू होने से ही अग्राह्य हो जाता है । इस प्रकार 'आस्तिक' शब्द के तीनों रूढ़ अर्थ, जो छः दर्शनों को लागू होने वाले तथा तीन नास्तिक दर्शनों को लागू न होने वाले हों—ऐसे न होने से आस्तिक-नास्तिक वर्गीकरण के आधार का प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है । अतः एक अन्य प्रकार के वर्गीकरण का ही पुरस्कार आवश्यक प्रतीत होता है । ऐसा एक वर्गीकरण प्राचीनकाल से प्रचलित है । इस वर्गीकरण में बौद्ध दर्शन अन्य सभी भारतीय दर्शनों से अलग पड़ जाता है और जैन दर्शन के साथ सभी छः दर्शनों का एक ही वर्ग में समावेश करना पड़ता है । इस वर्गीकरण का आधार आपाततः आत्मा की सत्ता का पुरस्कार तथा अपुरस्कार है । छः दर्शन, तथा जैन दर्शन भी, आत्मा की सत्ता के पुरस्कारक हैं और केवल बौद्ध दर्शन आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता । इसी कारण बौद्ध दर्शन "नैरात्म्यवाद" के नाम से भी भारतीय परंपरा में पहचाना जाता है । ईश्वर की सत्ता भले ही सब आस्तिक दर्शन स्वीकार न करते हों आत्मा की सत्ता वे अवश्य स्वीकार करते हैं । अब हमें यह देखना होगा कि क्या आत्मवाद आत्मा मात्र की सत्ता का स्वीकार है और नैरात्म्यवाद भी केवल आत्म-सत्ता का निषेध है ? वास्तविकता ऐसी नहीं है । बौद्धों ने

केवल जीवात्मा का अस्वीकार या खंडन नहीं किया है। बौद्धों ने नैरात्म्य को पुद्गल-नैरात्म्य तथा धर्म-नैरात्म्य ऐसे दो प्रकारों का बतलाया है। जैसे नित्य, अपरिवर्तनीय, ज्ञान, इच्छादि गुणों से युक्त जीव वस्तुसार नहीं है वैसे ही बाह्य, स्थिर तथा अनेक गुण-धर्मों से युक्त समझे जाने वाले पदार्थ भी वस्तुसत् नहीं हैं, ऐसा उक्त द्विविध नैरात्म्य का अर्थ है। केवल धर्मिविरहित धर्म ही वस्तुसत् हैं। ये अनन्त हैं और क्षणभंगुर हैं। यही नहीं, इन धर्मों में कोई सजातीयता या समानता न होकर ये एक-दूसरे के अत्यन्त विसदृश भी होते हैं। इस वैसादृश्य या विलक्षणता को ही 'स्वलक्षणता' कहा जाता है। प्रत्येक धर्म स्वयं अपना लक्षण है। उसका कोई धर्म या गुण, जो उससे भिन्न हो, लक्षण नहीं होता। जैसे एक क्षण से अधिक समय ये धर्म नहीं रहते वैसे ही स्थल या आकाश में इनका किंचित् भी विस्तार नहीं होता। अणुमात्र ही इनका परिणाम है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक बर्ट्रंड रसल के शब्दों में, इन धर्मों को "प्वाइंट-इंस्टैंट" (बिन्दु-क्षण) या "इंस्टैंटेनियस प्वाइंट" (क्षणिक बिन्दु) की संज्ञा देना अनुपयुक्त नहीं होगा। इस प्रकार स्थल, काल, धर्म या जाति एवं द्रव्यत्व आदि के द्वारा वस्तुओं को अन्य मतानुसार जो वस्तुता या आत्मभाव प्राप्त होता है उसको पूर्णतया अस्वीकार कर बौद्धों ने स्थलतः, कालतः, वस्तुतः तथा जातितः आत्मभाव-रहित शुद्ध विलक्षण अणु को ही वस्तुसत् ठहराया है। सब प्रकार के विश्लेषणों की पार्यन्तिक सीमा के रूप में यह अणु बौद्धों के नैरात्म्य का वास्तविक स्वरूप है। केवल जीवात्मा का निरास बौद्धों को अभिप्रेत नहीं है। आत्मतत्त्व एक संश्लेषक तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न रूपों में जीवन के सभी क्षेत्रों में जाने-अनजाने अपनाया जाकर भेदयुक्त वस्तुओं को भी अभिन्नता प्रदान करता है। जैसे प्रतिक्षण अन्यान्य अवस्थाओं से गुज़रने वाली, या विभिन्न क्रियाकलापों को घटित करने वाली भी, वस्तु काल या महाकाल की एकता के आधार पर एक ही मान ली जाती है उसी प्रकार विभिन्न स्थल-बिन्दुओं से अपने विभिन्न अंगों या अंशों के द्वारा सम्बद्ध होते हुए भी इन अंगों या अंशों से बनी वस्तु एक ही समझी जाती है। रूप, रसादि अनेक गुणों को अपने में धारण कर अपनी द्रव्यात्मक एकता में स्थित वस्तु भी एक समझी जाती है। गुण उत्पन्न होने के पूर्व या उनके विनाश के अनन्तर भी उनसे रहित वस्तु अपने आत्मीय रूप से एक मान ली जाती है। ये सब ग़लत धारणायें हैं। अनेकता और एकता का साहचर्य नहीं हो सकता। 'यो विरुद्ध धर्माध्यासवान् स न एकः" अर्थात् जिस वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की उपस्थिति दिखाई पड़े वह वस्तु एक न होकर अनेक ही होगी। यह एक सामान्य आनुभविक नियम है जिसे बौद्धों ने अपनाया है। जैसे बाह्य भेद वस्तुओं को एक-दूसरे से अलगाते हैं वैसे ही अन्तर्गत भेद

भी उन्हें अपने घटकों से अलगाते ही हैं। इस कारण द्रव्य-गुण, द्रव्य-सामान्य, गुण-सामान्य इत्यादि परस्पर सम्बद्ध होकर द्रव्य या गुण की सत्ता का निर्माण नहीं कर सकते। यही नहीं, इन पदार्थों में कोई सम्बन्ध ही घटित नहीं हो सकता क्योंकि सम्बन्ध की कोई सत्ता नहीं है। सम्बन्ध असत् है। सम्बन्ध को सत् मानकर बौद्ध वस्तुमात्र को स्वलक्षण तथा अणु-रूप नहीं मान सकते। यदि सम्बन्ध सत् हो और वह पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करता हो तो इस सम्बन्ध के कारण एक सम्बन्ध-सापेक्ष इकाई या विशिष्ट का निर्माण होगा। यह विशिष्ट अपने घटक विशेषण तथा विशेष्य से भिन्न होगा। यह विशिष्ट अणु कदापि नहीं हो सकता। सम्बन्धों को बाह्‌य मानकर भी इस कठिनाई का निवारण नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, भूतल और उस पर रखे हुए घट का संयोग भले ही बाह्य हो लेकिन घट और उसके रूप-रसादि गुणों का सम्बन्ध—यदि वह सत् माना जाय तो—बाह्‌य कदापि नहीं समझा जा सकता। बाह्‌य सम्बन्ध से सम्बद्ध सम्बन्धी भी सम्बद्ध स्थिति में विशेष्य-विशेषण-भावापन्न ही होते हैं, सम्बन्ध नष्ट हो जाने पर भले ही वे अपने प्रातिस्विक रूप को प्राप्त हो जाते हों। अतः सम्बद्ध स्थिति में पदार्थों में विशेषणता-विशेष्यता के रूप में कुछ अस्थायी परिवर्तन घटित होता है यह मानना आवश्यक हो जाता है। परिवर्तन अस्थायी होने पर भी परिवर्तित वस्तु अपने मूल स्वरूप से भिन्न हुए बिना नहीं रह सकती। वैशेषिक और अन्य दार्शनिक परिवर्तित वस्तु की अपरिवर्तित सत्ता का भले ही पुरस्कार करें बौद्ध ऐसा नहीं करते। उनके मत में आँशिक या सतही (अथवा गुणात्मक) परिवर्तन (और विनाश भी) असम्भव है। परिवर्तन या विनाश 'निरन्वय' अर्थात् निःशेष रूप से ही घटित हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक लोकोक्ति का समर्थन प्रायः प्रस्तुत किया जाता है। लोकोक्ति यह है कि मुर्गी का एक हिस्सा काटकर पकाकर खाने के लिए और दूसरा अंडे देने के लिए काम में नहीं लाया जा सकता। ("नहि कुक्कुट्यः एको भागः पाकाय अपरश्च प्रसवाय उपयोक्तं शक्यः।")

इस प्रकार आत्मभावापादक स्थल, काल, सामान्य आदि एवं इनके विविध सम्बन्धों को अस्वीकार कर बौद्धों ने जिस वस्तुस्वरूप का पुरस्कार किया है उसे तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण-प्रक्रिया की पार्यन्तिक परिणति मानना होगा। सामान्यतया बौद्धों की वस्तु-मीमांसा "क्षणभंगवाद" नाम से पहचानी जाती है। "क्षणभंग" का अर्थ "प्रतिक्षण विनाश" है। इस अर्थ के अनुसार प्रत्येक वस्तु एक क्षण ही विद्यमान होती है और दूसरे ही क्षण वह पूर्णतया नष्ट हो जाती है ऐसा निष्कर्ष निकलता है। स्थूल रूप से यह कथन सही है। लेकिन "कोई भी वस्तु एक क्षण रहती है" इस कथन से यह भी अर्थ निकलता है कि क्षण और

वस्तु इनमें कोई (कालिक) सम्बन्ध है जिसके कारण वस्तु "क्षणिक" कहलाती है। यह अर्थ बौद्धों को मान्य नहीं हो सकता। क्षण और क्षणिक ये दो अलग-अलग वस्तुएं नहीं हो सकतीं। वस्तु को ही क्षण या विश्लेषण की एक अन्तिम इकाई के रूप में समझना अधिक उपयुक्त होगा। इस कारण वस्तु जैसे क्षण-रूप होती है वैसे ही वह बिन्दु-रूप (दैशिक विश्लेषण की अन्तिम इकाई के रूप में) भी होती है, ऐसा कहा जा सकता है। रसेल जिसे बिन्दु-क्षण या क्षणिक बिन्दु कहता है वह इस क्षण-बिन्दु-रूप वस्तु से कुछ समानता रखता है। क्षण-बिन्दु में और बौद्ध-सम्मत वस्तुसत् में फ़र्क यह है कि क्षण-बिन्दु में कुछ चतुरायामीय देशकाल की विशेषतायें भी होती हैं जो उक्त वस्तुसत् में नहीं हो सकतीं। कोई भी विशेषण या धर्म इस वस्तुसत् में रह नहीं सकता क्योंकि वह स्वलक्षण अतएव अविश्लेष्य या अखंड हुआ करता है। स्थल, कालादि की वस्तु-सत् से स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं होती जिसमें वस्तु-सत् विद्यमान हो। वैशेषिकादि-सम्मत वस्तु-संप्रत्यय में भी स्थल, कालादि समाविष्ट होते हैं क्योंकि ये वस्तुसत् की सत्ता के विभिन्न निर्धारक हुआ करते हैं। बौद्ध-सम्मत वस्तुसत् अनिर्धार्य (स्वलक्षण) होने से स्थल, कालादि इसमें समाविष्ट नहीं होते। अतः इसे इस अर्थ में बिन्दु या क्षण कहना भी उचित नहीं है। तथाकथित स्थल, काल, धर्म सामान्य आदि से अवगुंठित सामान्यानुभव-विषयवस्तु के पार्यन्तिक विश्लेषण से ही अविश्लेष्य सर्वधर्मातीत वस्तुसत् की प्राप्ति (या अवगति) होनी है। इस कारण वस्तुसत् में न काल का, न देश का, न सामान्य आदि का ही समावेश सम्भव है। बौद्धों को 'क्षणभंगवादी' कहने वाले विचारक बौद्ध-सम्मत वस्तु-सत् के इस सर्व-धर्मातीत प्रत्यक् रूप को मद्देनज़र नहीं रखते। वे उसे क्षणभंगुर वस्तु ही समझते हैं। इस अज्ञान का कारण यह है कि बौद्धों ने वस्तु-सत् की क्षणिकता अव्याप्तवृत्तिता, निःसामान्यता, धर्ममात्रता आदि का समर्थन भिन्न-भिन्न युक्तियों से भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया है। इनमें क्षणिकता का समर्थन बौद्धों ने बहुत ही विस्तार के साथ किया है। अव्याप्यवृत्तिता का समर्थन अवयविनिरास के प्रसंग में संक्षेप रूप से किया है। अवयवों से भिन्न किसी भी प्रकार के अवयवी की स्वतंत्र सत्ता सम्भव नहीं यह इस समर्थन का विषय है। यदि घट, पटादि पदार्थ अपने परमाण्वादि अवयवों से कहीं अधिक स्थान में व्याप्त प्रतीत होते हैं तो यह एक भ्रांति है क्योंकि परमाणुओं से अलग अवयवी की सत्ता नहीं होती। परमाणु का प्रदेश ही अवयवी का भी प्रदेश है क्योंकि अवयवी परमाणु-पुंज-रूप ही है। वस्तुसत् की निःसामान्यता (या पूर्ण वैयक्तिकता) सिद्ध करने के लिए बौद्धों ने अपोहसिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किन्हीं भी वस्तुओं में साजात्य नहीं होता। एक घट दूसरे घट के साथ वास्तव में किसी प्रकार की समानता नहीं

रखता। समानता के आभास का आधार मानी जाने वाली जाति, जो सभी समान पायी जाने वाली वस्तुओं में दृग्गोचर होती प्रतीत होती है, वह केवल वस्तुओं का अन्यापोह या अन्य का अपवारण मात्र है। घट अघट नहीं है। घट घट ही है। घट-व्यक्ति भी घट-व्यक्ति ही है, उससे अन्य नहीं। एक-एक व्यक्ति जैसे अन्य घट-व्यक्तियों का अपवारण करती है वैसे ही सभी घट-व्यक्तियों के समूह भी घट-अघट। व्यक्तिसमूह के अपवारक समझे जा सकते हैं। यह अपवारण प्रत्येक व्यक्ति में स्वभावसिद्ध है। वैशेषिक इस द्रव्यमात्र की स्वाभाविक अन्यापवारकता के स्थान में पृथक्त्व-रूप गुण की कल्पना करते हैं। यह द्रव्य-पदार्थों की प्रातिस्विकता है। इस प्रकार वस्तु-स्वभाव से अन्य सामान्य-रूप धर्म का निरास अपोह सिद्धान्त के द्वारा बौद्ध-दर्शन में किया जाता है। जैसे वस्तु से भिन्न सामान्य नहीं वैसे ही वस्तु से भिन्न उसके गुण या कोई धर्म भी नहीं, ऐसा भी सिद्धान्त, जिसे 'गुण-गुणिभेद भंगवाद' के नाम से पहचाना जाता है, बौद्ध दर्शन में प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अनेक गुणों या धर्मों के आधार के रूप में किसी वस्तु को देखना एक भ्रान्ति है। विभिन्न गुणों या धर्मों का विशिष्ट क्रम से आकलन किया जाने पर उनके सहास्तित्त्व की भ्रांति होती है। वास्तव में गुणों या धर्मों का साहचर्य सम्भव ही नहीं है। गुणों या धर्मों से अतिरिक्त तथा उनका आश्रय माने जाने वाले किसी पदार्थ का स्वतंत्र ग्रहण कभी नहीं होता। गुण-धर्म सापेक्ष ही तथाकथित गुणी का ग्रहण होता है जिससे हम कह सकते हैं कि गुणगुणिभाव असत् है।

सम्बन्धों की असत्ता का भी स्वतंत्र रूप से 'सम्बन्ध परीक्षा' जैसे ग्रन्थों में विवेचन किया गया है। कोई भी तथाकथित बाह्य या आन्तरिक सम्बन्ध वास्तविक नहीं हो सकता क्योंकि सम्बन्धियों से अलग रहकर सम्बन्ध सम्बन्धियों को परस्पर सम्बद्ध नहीं कर सकता। और यदि वह सम्बन्धियों से सम्बद्ध हो तो या तो सम्बन्धियों को सम्बद्ध करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी या सम्बन्ध और सम्बन्धियों के बीच एक अन्य सम्बन्ध की विद्यमानता स्वीकार करनी पड़ेगी जो अनिवार्यतया अनवस्था दोष उत्पन्न करेगी। इस प्रकार कुछ परिचित तथा कुछ नये तर्कों के द्वारा सम्बन्ध-परीक्षा के रचयिता धर्मकीर्ति ने सम्बन्ध मात्र को असत् ठहराया है।

स्वयं वस्तु भी द्रव्य के रूप में (जैसा वैशेषिक मानते हैं) पूर्णतया आत्मभाव-युक्त या सत् कहलाने योग्य नहीं होती यह भी बौद्धों का वस्तु-स्वरूप-सम्बन्धी निष्कर्ष है। इसका कारण यह है कि वस्तुओं का अन्यापोह रूप जो स्वभाव है वह अभाव ही है और अभाव की कोई सत्ता नहीं होती। एक और कारण वस्तुओं के आत्मभाव-राहित्य का यह भी है कि विनाश-रूप अभाव को वस्तु मात्र का स्वभाव

मानना आवश्यक है जिसके बिना उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में ही वस्तुओं के विनाश का उत्पादन सम्भव नहीं है। यदि आगन्तुक कारणों पर वस्तुविनाश निर्भर करे तो द्वितीय या अन्य किसी क्षण में वस्तु का विनाश घटित होगा या न भी होगा। बौद्धों को "वैनाशिक" यह संज्ञा इस कारण ही दी गयी है।

इस तरह क्षणभंग अवयवि-निरास, गुणगुणि-भेद-निरास, अपोहवाद, सम्बन्ध-निरास, विनाश-स्वाभाव्य आदि सिद्धान्तों को प्रस्थापित कर बौद्धों ने वस्तु-सत् के पार्यन्तिक विश्लेषणात्मक स्वरूप को (जिसका किसी प्रकार विश्लेषण नहीं हो सकता) पूर्णतया उद्घाटित किया है। यह स्वरूप-विश्लेषण की परमावधि होने के कारण इसे हम 'तात्त्विक' या तत्त्वमीमांसीय अणु कह सकते हैं। अर्वाचीन पश्चिमी दर्शन भी विश्लेषणवादी अतएव अणुवाद का पुरस्कारक रहा है। यह अणुवाद तार्किक अणुवाद के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धों के अणुवाद से तार्किक अणुवाद की तुलना की जाय तो प्रतीत होगा कि तार्किक अणु अविश्लेष्य पार्यन्तिक अणु ही नहीं है। तार्किक अणु प्राप्त करने के लिए अर्वाचीन दार्शनिक संयुक्त प्रतिज्ञप्तियों का उनकी घटक प्रतिज्ञप्तियों में, जिनकी वे सत्यता-फलन (ट्रुथ फंक्शन) होती हैं, विश्लेषण करते हैं। उदाहरणार्थ "यह पेड़ विशाल और निबिड़ है" इस प्रतिज्ञप्ति का "यह पेड़ विशाल है" तथा "यह पेड़ निबिड़ है" इन प्रतिज्ञप्तियों में विश्लेषण सम्भव है। इन घटक प्रतिज्ञप्तियों के घटक पद "पेड़", "विशाल" तथा "निबिड़" भी अपने अर्थों में विश्लेष्य हैं। क्योंकि विभिन्न संवेद-समुच्चयों के ही ये पद वाचक हैं अतः उक्त विश्लेषण-प्रक्रिया की परिसमाप्ति "यह एक ऊंचे आकार की वस्तु है" जैसी प्रतिज्ञप्तियों तक पहुँचने पर सम्भव है। इस प्रतिज्ञप्ति के आगे कोई विश्लेष्य बात शेष नहीं रहती। उक्त प्रतिज्ञप्ति ही आणविक प्रतिज्ञप्ति है जिसका विश्लेषण सम्भव नहीं है।

बौद्ध मतानुसार किसी भी प्रतिज्ञप्ति को अणु-रूप या अविश्लेष्य नहीं माना जा सकता। प्रतिज्ञप्ति वस्तुसत् का वास्तविक रूप है ही नहीं। 'यह', 'वह', 'ऊंचा', 'लंबा', 'आयताकार' जैसे विशेषणों से वस्तुसत का निर्देश करना उसके स्वलक्षण स्वरूप का अपलाप करना है। वस्तुसत् पूर्णतया 'कल्पनापोढ़' अर्थात् सर्वविधविकल्पातीत हुआ करता है। लेकिन सरल से सरल प्रतिज्ञप्ति भी वस्तु को विकल्पारूढ़ किये बिना घटित नहीं हो सकती। इस कारण तार्किक अणु को हम विश्लेषण की पार्यन्तिक स्थिति नहीं मान सकते। इस अणु में संश्लेषण की, याने अन्य अणुओं के साथ संयोजन की, सम्भावना अवश्य होती है जिस कारण तथ्यों का निर्माण हो पाता है। पाश्चात्य विचारकों के इस मत को भी बौद्ध स्वीकार नहीं कर सकते। अणु यदि वास्तव में स्वलक्षण हों तो वे कभी अन्य अणुओं के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते। इस कारण ऐसे सम्बन्ध की सम्भावना भी उनमें नहीं हो

सकती। विट्गेंस्टाइन आदि अर्वाचीन विचारकों को इस संभावना का स्वीकार इस लिये करना पड़ा है कि वे अणुओं के संयोजन से तथ्यों की (जो विकल्प-रूप न होकर वास्तविक ही माने गये हैं) निर्मिति सम्भव मानते हैं। बौद्ध अणुओं से भिन्न सभी तथाकथित वस्तुओं को विकल्प-रूप ही समझते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि तत्त्वमीमांसीय अणु ही वस्तुसत् हों और स्थूल अणु-संघात-रूप दृश्य जगत् असत् हो तो इस असत् की आभासमान् सत्ता की कैसे व्याख्या होगी ? यह मानकर भी कि स्थूल केवल आभास-रूप है यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस आभास में भी कुछ नियम है। कोई भी अणुपुंज किसी भी स्थूल के रूप में आभासमान् नहीं होता। कुछ घट के रूप में, कुछ पेड़ के रूप में, कुछ गुणी के रूप में तो कुछ सामान्य के रूप में संपुंजित होते हैं। इस प्रकार स्थूल असत् के ज्ञान में जो नियमितता दिखाई देती है उसका स्पष्टीकरण देना ही होगा। बौद्धों का तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण यह है कि अनादि वासनाएं, जो मनुष्य के (अन्य प्राणियों के भी) मन में दृढ़-मूल होती हैं, मनुष्य को विकल्पावगुंठित रूप से अणुओं के ग्रहण के लिए प्रेरित करती हैं। ये वासनायें विभिन्न प्रकार के संस्कार ही हैं जो मन के साथ अभिन्नतया जुड़े रहते हैं। विसदृश अणुओं को सदृश या सजातीय रूप से देखना, गुणों या धर्मों को अन्याश्रित समझना, असंबद्ध को संबद्ध के रूप में पहचानना ये सब भ्रांतिपूर्ण व्यवहार विभिन्न संस्कारों की आंतरिक, अज्ञात और स्वाभाविक प्रेरणाओं से ही घटित होते हैं। इन संस्कारों के पीछे मनुष्य की आत्म-भावना (मैं एक व्यक्ति हूँ, मेरी अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं से स्वतंत्र सत्ता है" इस प्रकार की भावना) का उपोद्बलन होता है। दार्शनिक मनन-चिंतन से आत्मभावना शिथिल हो जाने पर उस भावना से पोषित संस्कार भी शिथिल होने लगते हैं और तब क्रमशः वस्तुसत् का वास्तविक रूप प्रकट होने लगता है।

अर्वाचीन दार्शनिक वस्तुओं के स्थूल आनुभविक स्वरूप को अणुओं से तार्किक रचनाएं (लॉजिकल कंस्ट्रक्ट्स) मानते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि स्थूल की आनुभविक सत्ता तर्कतः प्रत्याख्येय प्रतीत होती है। इस सत्ता को तर्कतः प्रमाणित नहीं किया जा सकता। जैसे, मुझे सामने स्पष्ट रूप से एक पेड़ खड़ा दिखाई देने पर भी उसकी सत्ता को मैं संशयातीत नहीं मान सकता क्योंकि कई बार भ्रांतिवश सामने पेड़ न होने पर भी मुझे पेड़ की उपस्थिति का ज्ञान होता है। अतः भ्रम और प्रमाद इन दोनों स्थितियों में समान रूप से उपस्थित तथा तर्कतः अप्रत्याख्येय जो पेड़ से सम्बद्ध रूपादि गुणों के संवेद हैं उन्हीं को वास्तव में अनुभव-विषय मानना उचित माना जाता है। इन संवेदों से ही दर्शक की चेतना-क्रिया स्थूल पेड़ के संप्रत्यय की काल्पनिक रचना करती है। विभिन्न

संवेदों को किस प्रकार के सम्बन्ध या सम्बन्धों से परस्पर सम्बद्ध मानकर उनसे स्थूल वस्तु का संप्रत्यय तर्क-संरचित होता है इस बात की चर्चा प्रो. एयर ने एक उदाहरण के द्वारा अपनी **लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लॉजिक** नामक पुस्तक के तीसरे अध्याय में की है। इस संरचना में सेंसफील्ड (संवेद-क्षेत्र) तथा लाजिकल प्रॉडक्ट (तार्किक निर्मिति) आदि अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है। यहां यह प्रश्न उठता है कि एक सामान्य अनपढ़ मनुष्य कैसे स्थूल वस्तुओं को सहज भाव से देख लेता है जबकि उसे तार्किक संरचना की प्रक्रिया का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं होता? यदि स्थूल पदार्थ तार्किक संरचना की प्रक्रिया से निर्मित कोई नयी वस्तु हो तो कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया को जाने बिना भी उससे निष्पन्न वस्तु को जानना सम्भव है। किसी वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए उसकी रचना या घटकों को जानने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु अर्वाचीन दार्शनिक तार्किक संरचना-प्रक्रिया से अलग स्थूल पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। यदि संरचित वस्तु की स्वतंत्र सत्ता वे मानें तो इस संरचना की कल्पना करने की ही कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। एक और बात भी इस सन्दर्भ में विचारणीय है। वह यह है कि तार्किक संरचना एक विचारपूर्वक सम्पन्न की जाने वाली प्रक्रिया ही हो सकती है। वह अपने-आप घटित नहीं हो सकती। लेकिन स्थूल पदार्थों का प्रत्यक्ष आंखें खोलते ही किसी भी व्यक्ति को अपने-आप होता है। इसके लिए दर्शक को थोड़ा भी विचार नहीं करना पड़ता। यदि विचार करने के बाद ही प्रत्यक्ष घटित हो तो वह साक्षात्कार रूप कदापि नहीं होगा। प्रत्यक्ष ही ऐसा ज्ञान है जिसके लिए अन्य ज्ञानों की आवश्यकता नहीं होती।

कुछ संप्रत्यय अवश्य तर्कतः संरचित होते हैं, जैसे क्षण, सारूप्य, सादृश्य और विशिष्ट प्रकार के अभाव आदि के संप्रत्यय। इन संप्रत्ययों का किसी को प्रत्यक्ष से आकलन होना सम्भव नहीं है। उसके लिए विश्लेषणात्मक विचार की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि इन तथा इन जैसे अन्य संप्रत्ययों के भिन्न-भिन्न प्रकार के विश्लेषण विभिन्न विचारकों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं।

विश्व को परब्रह्मरूप सत्य का विवर्त मात्र मानने वाले अद्वैत वेदान्त ने भी आभासमान् सत्ता को तर्कतः संरचित नहीं माना है। अनादि अविद्या के कारण ही परमार्थ सत्य में व्यावहारिक सद्रूप विश्व प्रतिभासित होता है ऐसा अद्वैत कहता है। सामान्यानुभव-विषय घटपटादि वस्तुओं को तार्किक प्रक्रिया द्वारा निर्मित मानना सामान्यानुभव और तार्किक प्रक्रिया इन दोनों का विपर्यास करने के बराबर है।

अब तक के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि बौद्ध दर्शन ही एकान्ततः विश्लेषणवादी है । संश्लेषणों की निर्धारक जो जो बातें हैं उन सबका इस दर्शन ने स्पष्टतया निषेध किया है । अर्वाचीन दार्शनिकों के विश्लेषणवादी के समान बौद्ध विश्लेषणवाद संश्लेषण की संभावना-युक्त विश्लेषणवाद नहीं है । इस कारण इस दर्शन को उसके उद्भावकों ने "विभाज्जवाद" यह जो संज्ञा प्रदान की है, वह अतीव अर्थपूर्ण है । नैरात्म्यवाद का वास्तविक अर्थ विश्लेषणवाद ही है । क्योंकि ऊपर स्पष्ट किये मुताबिक स्थल, काल, द्रव्य, सामान्य, गुण संबंध इत्यादि तथाकथित आत्मतत्त्व के ही विविध संश्लेषण रूप हैं जिनका बौद्धों ने आग्रहपूर्वक खंडन किया है । बौद्धेतर सभी भारतीय दर्शन इन संश्लेषक तत्त्वों में से कुछ या सभी का पुरस्कार करते हैं । इसी कारण ये सभी आत्मवादी कहे जाते हैं ।

प्रोफेसर कॉलोनी,
हनुमान नगर, नागपुर,

कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप

यशदेव शल्य

कला को ऐसे सृजन-कर्म के रूप में भी देखा गया है जो नितान्त विलक्षण और नव्य कृति में प्रतिफलित होता है और ऐसी अनुकृति के रूप में भी जो किसी अव्यक्त अथवा द्यु-लोकवासी सत्त्व की आकृति को व्यक्त करती है। स्पष्टतः ये दो परस्पर विरुद्ध मत हैं। अनुकृतिवादी मत चित्र, मूर्त्ति और नाटक के प्रसंग में सहज रूप से सही प्रतीत होता है, यद्यपि अनुकृतिवादी संगीत तक में पूर्वतः विद्यमान आकृति की अनुकृति ही देखते हैं।[1] वास्तव में थोड़ा गहराई से देखें तो संगीत और चित्र दोनों ठीक ही समान रूप से अनुकरणात्मक कहे जा सकते हैं। चित्रकार को यदि बाह्य आकृतियों की प्रतिकृतियों का निर्माता भी माना जाय तो भी प्राकृतिक आकृतियों के सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि वे आखिर किसकी प्रतिकृतियां हैं? इस प्रश्न को अपप्रश्न कह कर उपेक्षित करना युक्त नहीं होगा। सब आकृतियां आकार-कल्पना को पूर्वापेक्षित करती हैं और आकार-कल्पनाएं सृजनात्मक प्रतिभा को। इस सृजनात्मक प्रतिभा का न वैयक्तिक होना आवश्यक है और न आत्मचेतन होना। अनेक कवि इसके साक्षी होंगे कि उनकी कृतियां किसी अतिक्रांत स्रोत से उनकी चेतना में अवतरित होती हैं, मानो कोई उनका माध्यम के रूप में उपयोग कर रहा हो। देव-प्रतिमाएं बनाने वाले भी देवता की आकृति के अंतश्चक्षु से साक्षात्कार की बात ही कहते हैं। देवता की आकृति उस प्रकार प्रदत्त आकृति नहीं होती जिस प्रकार प्राकृतिक आकृतियां होती हैं, न वे निराधार कल्पनाएं ही कही जा सकती हैं। कलाकार उनके प्रत्यक्षीकरण का ही दावा करते हैं, जिस दावे की सत्यता प्रतिमा की सहज विश्वसनीयता से प्रमाणित होती है। किन्तु तब भी यह सही है कि देवता की स्वतः कोई आकृति नहीं होती, वह केवल "ऋषि" की साक्षात्कारात्मक प्रतिभा में आकृति के माध्यम से अपने को प्रकट करता है। प्रकृतिगत आकृतियों को हम जड़ आविर्भाव मानते हैं, जो युक्त प्रतीत नहीं होता। ये आकृतियां स्पष्टतः प्रत्ययों को रूपायित करती और प्रतिविशिष्ट आद्य प्ररूपों (आर्किटाइप्स) के विभिन्न निरूपणों जैसी प्रतीत होती हैं। महान् कलाकार भी वास्तव में यही करता है, तब भी जब वह प्रकटतः किसी सम्मुख प्रस्तुत व्यक्ति

---

1. "नू के महान् लेखक और आलोचक जापान के सेअमी (Seami) का दावा है कि संगीत और नृत्य कलाएं भी पूर्णतः अनुकरणात्मक ही होती हैं।" द्रष्टव्य कुमारस्वामी—"दि ट्रांस्फर्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट," मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, पृ. 10.

को चित्रित करता है । "रेंब्रां ने अनेक आत्म-चित्र बनाये किन्तु उसके वार्द्धक्य-काल के आत्म-चित्र उसकी अपनी आकृति के अनुकारी नहीं होकर सुखी, दुःखी, शोकाकुल, उल्लसित, मूढ़, प्राज्ञ किसी मानव के चित्र हैं जिनमें से कोई-कभी उसकी अपनी आकृति के अनुरूप भी हो सकता है ।"[2] वास्तव में इस दृष्टि से ये चित्र ज्यामितिक प्रत्ययों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत आकृतियों के जैसे होते हैं, जिनमें रेखाएं और कोण अपने निरूपक नहीं हो कर पूर्णतः पारदर्शी होते हैं । निश्चय ही यह उपमा केवल आंशिक है, क्योंकि चित्र आत्मनिरूपक भी होते हैं, ये आकारावतरित प्रत्ययों को ही चित्रित करते हैं जो आकार साक्षात्कार के क्षणों के साक्षी होते हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्यय को व्यंजित करने वाला चित्र उस "वास्तव" आकृति का ही चित्र हो जो उस प्रत्यय को धारण करती है । चित्रकार की प्रतिभा इस "वास्तव आकृति" के साक्षात्कार में और उसकी कुशलता इस आकृति के सम्यक् चित्रण में देखी जाती है । यही बात और ठीक इसी प्रकार से, संगीत के सम्बन्ध में भी सही है । यहां प्रत्यय, आकृति और उसकी प्रतिकृति को एक उदाहरण द्वारा समझना उपयोगी होगा: घट घट-प्रत्यय का निरूपक होता है, जो प्रत्यय स्वरूपतः आकार-विहीन होता है । किन्तु यह प्रत्यय ऐसा है जिसका साक्षात्कार केवल आकृति के माध्यम से ही हो सकता है और जो विशिष्ट घटों के रूप में ही चरितार्थ हो सकता है । कलाकार की प्रतिभा इस प्रत्यय के साक्षात्कार में और आकृति द्वारा इसके निरूपण-कौशल में प्रदर्शित होती है । यह निरूपण अनेक प्रकार की आकृतियों में हो सकता है, किन्तु जिस भी आकृति में वह हो उस आकृति का कुशलतम प्रतिपादन वांछनीय होता है और इस प्रतिपादन की सफलता प्रत्यय को सम्यक् रूप में अन्तश्चक्षुगम्य बनाने में होती है । अब, संगीत, नाटक या काव्य में आकृति चक्षु-ग्राह्य नहीं होती किन्तु संगीत में ध्वनि-योजना और नाटक में चरित्र, क्रिया और घटना की योजना होती है और ये योजनाएं गेय या अभिनेय प्रत्यय की न्यूनाधिक सफल प्रतिकृतियां प्रस्तुत करती हैं । एक गान किसी प्रत्यय को आकृति को व्यंजित करता है । यह हम गान सुनकर उसकी स्वर-योजना की भाव से अनुकूलता-प्रतिकूलता के अथवा न्यूनाधिक भावानुकूलता-प्रतिकूलता के रूप में देखते हैं । उदाहरणतः मीरा का "जोगी, मत जा, मत जा, पाँव पड़ूं मैं तोरे" बहुत से रागों में गाया गया है । ये सब राग संगीतकार द्वारा इस गीत के भाव की संगीतात्मक आकृति के साक्षात्कार की न्यूनाधिक सम्यक्ता-असम्यक्ता को व्यक्त करते हैं और यह साक्षात्कार गायक के गायन में कृतकार्य होता है । गायन इस स्वर-योजना का निर्वाह कितनी सफलता

2. विवेकदत्त–इन व्यू ऑफ ए रिव्यू, जे.आई.सी.पी.आर., वर्ष 8, अंक 2, जनवरी – अप्रैल 1991, पृ. 161.

से कर पाता है यह गायक के प्रत्यय-साक्षात्कार, राग की समझ और कंठ के कौशल तीनों पर निर्भर करता है। इस प्रकार संगीत उतना ही अनुकृति प्रस्तुत करने का प्रत्यन करता है जितना चित्रकला करती है।[3] किन्तु यह प्रतिकृति इन्द्रिय-गम्य आकृति की नहीं हो कर प्रत्यय की होती है, यह बात दूसरी है कि चित्र-ग्राह्य प्रत्यय चक्षु-ग्राह्य आकृति के माध्यम में व्यक्त होता है और संगीत-ग्राह्य प्रत्यय ध्वनि-ग्राह्य आकृति के माध्यम में। स्वयं प्रत्यय का आकार चित्रात्मक या संगीतात्मक नहीं होता किन्तु तब भी चित्र या राग उस प्रत्यय की ही अनुकृतियां प्रस्तुत करते हैं जो अनुकृतियां न्यून या अधिक सम्यक् और न्यून या अधिक संप्रेषण-समर्थ होती हैं। सम्यक्ता की इसी संभावनात्मक अनन्तता में कलाकार की सृजनात्मकता के लिए अवकाश होता है। कोई चित्रकार चिन्तन या प्रज्ञा को आकार देने के लिए पशु की आकृति का उपयोग नहीं कर सकता, उसके लिए वह मानवाकृति का ही उपयोग कर सकता है, किन्तु यह आकृति कैसी होगी और उसकी मुद्रा कैसी होगी, यह पूर्व निर्धारित नहीं होता। और मानवाकृति की अनिवार्यता भी वास्तव में उसकी सृजनात्मकता की बाधक नहीं होती, क्योंकि जैसाकि आरंभ में हमने देखा, स्वयं प्राकृतिक आकृतियां भी सृजनात्मक चेतना की ही प्रतिफल होती हैं और कलाकार इन आकृतियों के उपयोग में एक बृहत्तर सृजनात्मकता में ही सहभाग लेता है।

कलाकार की सृजनात्मकता विषयिता के अर्थों के उद्भव का स्रोत होने और उन अर्थों के अनुरूप आकृतियों अथवा प्रतीक-रचनाओं के साक्षात्कार में होती है। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि सृजनात्मकता केवल कला-कर्म में ही नहीं होती, यह शिल्प और विज्ञान आदि में, यहां तक कि वस्तु-योजना आदि तक में भी लक्षित होती है। किन्तु कला-कर्म में, और बहुत कुछ दर्शन में भी, यह अधिक मूलगामी होती है, क्योंकि अन्य क्षेत्रों में इसका रूप पूर्वविद्यमान ज्ञान-राशि के आधार पर नयी सम्बन्ध-व्यवस्थाओं को देखने का होता है जबकि कला

---

3. इस पर डा. रमेशचन्द्र शाह की निम्न टिप्पणी उल्लेखनीय है : "कुमार गन्धर्व कबीर–गायन के लिए प्रसिद्ध हैं और उन्होंने कहीं कहा है कि उन्हें कबीर के साथ ही वैसी अन्त–रंगता अनुभव हुई है जो उन्हें सांगीतिक समतुल्य उत्पन्न करने की प्रेरणा दे। किन्तु एक बार उन्हें तुलसी-गायन का निमंत्रण मिला तो उन्होंने स्वयं मानस, विनय-पत्रिका आदि से पद चुन कर दो घंटे ऐसा तुलसी–गायन प्रस्तुत किया कि मैं स्तंभित रह गया। लगा, आजतक किसी ने तुलसी का ऐसा गायन न किया होगा। इस प्रसंग का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि आपने भाव की संगीतात्मक आकृति और उसके साक्षात्कार की न्यूनाधिक सम्यक्ता की जो बात यहां उठाई है वह बड़ी सच्ची बात है और अब मैं अपने उस अपूर्व अनुभव की व्याख्या इस शब्दावली में पा रहा हूं कि कुमार गन्धर्व ने कबीर के ही नहीं, तुलसी के भी भावों की संगीतात्मक आकृति के साक्षात्कार की सामर्थ्य प्रदर्शित की।

में भावनात्मक चित्त के उद्वेलन ही को अपना उपादान कर नाम-रूपात्मकतया आविर्भूत होना होता है, और इस उद्वेलन तथा आविर्भाव को चेतनागत किसी निगूढ़ सत्य का उद्घाटक, अथवा कहें आविष्कारक, अथवा कहें चरितार्थ करने वाला : आविष्कारतया उद्घाटित करने वाला : होना होता है। कला के समान ही दर्शन में भी चेतना अपने ही भीतर क्रियान्वित होकर अर्थ-राशि का साक्षात्कार करती है, किन्तु इसमें जैसे यह पूर्वविद्यमान अर्थों के दर्शन की भूमिका में ही होती है, चाहे ये अर्थ उसे आत्मावगाहन में ही उपलब्ध होते हैं और इस प्रकार अपूर्व होते हैं। किन्तु इन अर्थों के वाहक प्रतीक अधिकांशतः पूर्वप्रदत्त ही होते हैं। किन्तु कला में भावनात्मक चेतना ही अर्थों में आविर्भूत होती है और उन अर्थों के धारण में समर्थ प्रतीकों की सृष्टि करती है। यहां यह द्रष्टव्य है कि कलाकार कला-कर्म के मध्य भी भावोद्विग्न हो यह आवश्यक नहीं होता, वह अनुभूत भाव की स्मृति से भी रचना कर सकता है। ऐसा नहीं है कि कलाकार द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों में कुछ पूर्वप्रदत्त नहीं होता, और कि उसके द्वारा साक्षात्कृत अर्थ बाह्यालंबनों से पूर्णतः स्वतन्त्र होते हैं। किन्तु तब भी आधारभूत अन्तर होता है। कलाकार के साक्षात्कार्य अर्थ वाच्य नहीं हो कर व्यंग्य होते हैं और प्रतीक पारंपरिक होने पर भी उन अर्थों को अपूर्वतः व्यंजित करते हैं। यहां एक चित्रकार (विकास भट्टाचार्जी) के कला-कर्म के सम्बन्ध में एक उदाहरण देना स्पष्टीकरण में सहायक होगा : एक मृत बच्चे के माता-पिता ने भट्टाचार्जी से अपने उस बच्चे का ऐसा चित्र बनाने का अनुरोध किया जो उनके सामने बच्चे को जीवितवत् दिखा सके। इस प्रसंग में "भट्टाचार्जी" ने अपने कला-कर्म की चर्चा करते हुए कहा कि "मैं यह चित्र अभी तक आरम्भ नहीं कर पाया हूं। मैंने इसके लिए युक्त बिम्ब का साक्षात्कार पाने के लिए कितनी ही रातों की नींद खोई है। इसमें केवल एक चित्र की रचना करना ही अपेक्षित नहीं है, इसमें ऐसी आकृति की पुनारचना करना अपेक्षित है जो एक ओर नितांत मर्मान्तिक दुःख में से जन्म ले रही हो और दूसरी ओर जो दो अश्रु-प्लावित हृदयों को उनके सम्पूर्ण जीवन में संबल दे सके।[4] अब, बच्चे का यह चित्र बच्चे की आकृति के अधिकाधिक अनुरूप भी होना चाहिए और साथ ही इस अनुरूपता को केवल व्यंजक होना चाहिए, आत्मपार्यन्तिक नहीं, और इसका यह व्यंग्य अर्थ वह होना चाहिए जो चित्रकार की भावना में जन्म लेकर भी वास्तव (नितान्त अतिवैयक्तिक और अर्थों में उन्मिषित चेतना की वस्तुता में प्रतिष्ठित) हो। कला की यह चिदात्मक वस्तुता भाव-चित्रण, भाव-मूर्त्तन, नृत्य, संगीत और काव्य में अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। उदाहरणतः विभिन्न बुद्ध-प्रतिमाएं किसी वास्तव

4. आशिष चक्रवर्ती–"दि रीक्रियेटर", दि हिन्दोस्तान टाइम्स, 10 फरवरी, 1992.

व्यक्ति की प्रतिमूर्त्तियां नहीं होकर बुद्धत्व को ही मूर्त्त रूप देने के प्रयत्न में आविर्भूत हुई हैं। किन्तु ये आकृतियां "नितान्त कल्पित" होने पर भी "प्रतिमूर्त्तन" की सम्यक्ता और प्रामाणिकता में समान नहीं होतीं। प्रामाणिकता का यह न्यूनाधिक्य मनुष्य की उन सभी कृतियों में होता है जो उसकी सृजनात्मकता को व्यक्त करती हैं। यह न्यूनाधिक्य उतना रचना-कौशल में नहीं होता जितना भावना के होने और उसमें अर्थ के उन्मेष में होता है। अधिकांश कला-कृतियाँ अप्रामाणिक होती हैं क्योंकि अधिकांश व्यक्ति या तो भावना में क्षीण होते हैं अथवा उनकी भावना अर्थ-विपन्न होती है। यहां यह ध्यातव्य है कि अर्थोन्मेष और अर्थ-साक्षात्कार दो पृथक् स्थितियां नहीं हैं: अस्तित्वत: ही नहीं, प्रत्ययात्मक रूप से भी। अर्थ से साक्षात्कार के बाह्य होने पर अर्थ विषयात्मक हो जायगा और इस प्रकार वह कलात्मक नहीं रहेगा। अथवा यह भी कह सकते हैं कि भावना स्वरूपत: ही अर्थ-गर्भ होती है, कलाकार को उसे केवल स्फुटत: देखना ही होता है, और उसकी सफलता-असफलता दृष्टि की स्पष्टता-अस्पष्टता में ही होती है। निश्चय ही इस साक्षात्कार की कलाकृति-रूपेण निष्पत्ति या अभिव्यक्ति का महत्त्व भी कम नहीं होता, जिसकी सफलता कलाकार के अर्जित या सहज कौशल पर निर्भर करती है। वास्तव में यह भी कहा जा सकता है कि साक्षात्कार और अभिव्यक्ति में तारतम्य होता है और द्वितीय के बिना प्रथम स्फुट नहीं हो सकता। इनमें तारतम्य कहने का औचित्य यह है कि अभिव्यक्ति का मूल स्वयं भावना के उन्मेष में ही होता है जो उन्मेष उपादानों में कृति के रूप में पर्यवसित होता है: सांख्य की जगदभिव्यक्ति के समान, जो प्रधान से आरंभ हो कर पंचमहाभूत में निष्पन्न होती है।

यहां चित्रकार द्वारा उपयुक्त बिंब का साक्षात्कार पाने के प्रयत्न के स्वरूप को समझना कला की सृजनात्मकता और विषयि-आत्मक ज्ञेयता को समझने की दृष्टि से उपयोगी होगा। चित्रकार द्वारा उपयुक्त बिंब का अन्वेषण, कवि द्वारा उपयुक्त शब्दों का अन्वेषण और विचारक द्वारा उपयुक्त परिभाषाओं का अन्वेषण एक-जैसे प्रतीत होते हैं, चाहे इनमें प्रथम की पिछलों की तुलना में अभिव्यंग्य के साथ अधिक गहन अंतरंगता रहती है। अब इनमें तीसरे को विषयि-आत्मक नहीं कहा जा सकता, तब प्रथम दो को विषयि-आत्मक कैसे कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त, बिंब उसी प्रकार विषय रूप से ही निरीक्ष्य होता है जिस प्रकार चित्र निरीक्ष्य होता है, और चित्र वर्ण-संस्थान होने से विषय ही होता है। यह सही है, निश्चय ही चित्र और बिंब विषयतया "अवलोक्य" भी होते हैं और चित्र की बिंब से और बिंब की अर्थ से अनुरूपता विषयरूपेण ही "निर्धार्य" होती है, चित्र का तत्त्व उसकी "प्रस्तुति" में नहीं होकर उसकी अर्थ-निष्पादकता में, अथवा अधिक उचित

शब्दों में अर्थ के उसमें निष्पन्न होने में, होता है। निश्चय ही अर्थ, बिम्ब और चित्र तीनों "अवलोक्य" भी होते हैं तभी इनमें अनुकरण और अनुकार्यता का प्रसंग भी उपस्थित होता है, और इस रूप में विषयता भी रहती है, किन्तु इस अर्थ का तत्त्व इसकी अवलोक्यता में, इसके भावित होने और भाव के उन्मेष में होता है और चित्र का तत्त्व इस अर्थ का व्यंजकतया संकेत करने में होता है। व्यंग्य-व्यंजक का यह संबंध वैसा ही होता है जैसा लज्जा और मुँह की लाली का। अब, लज्जित होने वाले को अपने इस मनोविकार का ज्ञान भी होता है और मुख के विकार का भी, किन्तु लज्जा और मुख-विकार का याथार्थ्य ज्ञेय होने में नहीं घटिततया विदित होने में होता है। निश्चय ही लज्जा और मुख-विकार का घटित होना कलात्मक अर्थ का घटित होना नहीं है किन्तु उतना ही इस भाव और मनोविकार का विवरण देना, अथवा परिभाषा पाना भी कलात्मकता नहीं है, कला इस भाव के भावात्मक अर्थोन्मेष में अवस्थित होकर उसका अवलोकन करने और उस अवलोकित अर्थ को पुनः उसके अपने मूल को सौंप देने और इस मूल अर्थ को तद्वत् व्यंजित करने में होती है। उदाहरणतः रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु पर अज-बिलाप-वर्णन प्रिया की मृत्यु पर अनुभूत दारुण कष्ट का अनुभव, उसका उसके आनुभूतिक अर्थ में अवगाहन और अवलोकन, और उस अवलोकित अर्थ का उसकी अपनी विषयिता को पुनः समर्पित होना है। यह विलाप किसी भी प्रिया की मृत्यु पर किसी भी प्रिय का विलाप भी है और मानव-हृदय में निहित शाश्वत विरह की अभिव्यक्ति भी। कवि इस शाश्वत विरह के विमृश्य अर्थ का कल्पना द्वारा साक्षात्कार करता और इस शाश्वत विरह-वेदना के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। यहां दुःखात्मक कलाकृति की सुखात्मकता, अथवा कहें सुख-दुःखातिक्रान्त आनंदात्मकता के प्रगट विरोधाभास को समझना स्थाने होगा। रसवादी इसकी व्याख्या करते हैं कि दुःखात्मक कला-कृतियां हमें प्रिय ही नहीं होतीं बल्कि सुखात्मक कला-कृतियों से अधिक प्रिय होती हैं। विरह, मृत्यु-शोक, यहां तक कि सत्य की पराजय की निरूपक कृतियों को भी हम देखना-सुनना-पढ़ना चाहते हैं यह सर्वविदित है। इसके विपरीत वास्तविक जीवन में हम विरह, शोक और सत्य की पराजय नहीं देखना चाहते। इसका कारण यह है कि कला-कृति में निरूपित घटनाएं वास्तविक की सूचक नहीं होकर कल्पना द्वारा भाव की व्यंजक होती हैं, भाव संवेद्य नहीं होकर आकारतया (अर्थतया) संकेतित होता है और दर्शक-पाठक वस्तुस्थिति का विवश भोक्ता नहीं होकर भाव का स्वतंत्र अनुभविता होता है। राम द्वारा सीता के निष्कासन का अभिनीत दृश्य हृदय-विदारक होने पर भी वास्तविक घटना का सूचक नहीं होने से भाव-सामान्य का व्यंजक होकर दुःखजनक नहीं रहता बल्कि दुःखास्वादक हो जाता है।

किन्तु यह निरूपण कला और वास्तविक जीवन दोनों के सम्बन्ध में पूर्णतः सही प्रतीत नहीं होता। यहां पहले हम जीवन के सम्बन्ध में देखेंगे: निश्चय ही जीवन में हम मृत्यु-शोक या विरह-व्यथा नहीं चाहते, किन्तु स्वजन की मृत्यु हो जाने पर हम उसके शोक में अधिकाधिक निमग्न रहना चाहते हैं। किसी के वैसा नहीं होने पर, यदि उस का कारण "समदर्शिता" का उच्चतर बोध नहीं है तो, हम उसे असंवेदनशील अथवा निकृष्ट मानसिकता वाला मानते हैं, जिसका अर्थ है कि स्वजन का मृत्यु-शोक न केवल हमारे लिए काम्य होता है बल्कि श्रेष्ठतर मानसिकता का द्योतक भी होता है। यह शोकाकुलता हमारे लिए उसी प्रकार काम्य होती है जिस प्रकार कालिदास-कृत अज-विलाप-वर्णन। यही बात विरह-दुःख के सम्बन्ध में भी है। इन दोनों स्थितियों में दुःख दुःखित व्यक्ति के लिए मूल्यवान् होता है। वास्तविक जीवन में सीता और राम जैसे उदात्तचरित व्यक्तियों के साथ यह परिस्थिति घटित हो जाने पर हम उनके साथ उस दुःख में सम्मिलित होना चाहते हैं और यह नहीं चाहते कि परिस्थिति के बने रहने पर वे या हम उस दु ख-वेदना से मुक्त हो जाएं। अन्तर यह होता है कि कला में भाव का प्रतीक के माध्यम से अभिव्यंग्य होना अपेक्षित होने से कलाकार को उस भाव के शुद्ध आकार का साक्षात्कार भी करना होता है जिसके लिए दुःख की वास्तविक परिस्थिति की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती। किन्तु यह आकार भाव की वस्तुता में ही आविर्भूत होता है और स्मृति में वही अनुभूति का अधिष्ठान बनता है। पीछे हमने भट्टाचार्जी की उपयुक्त बिम्ब के साक्षात्कार के लिए उद्विग्नता का उल्लेख किया था। यह बिम्ब सत्तया उत्पन्न भाव द्वारा समर्पित आकारः अर्थः का ही वह रूप होता है जो उस आकार को चक्षु-गम्य रूप में व्यंजित कर सकता है। निश्चय ही हम, और कलाकार हमारी तुलना में बहुत अधिक स्फुट तथा समृद्ध रूप में, भाव के सत्तया अनुभव के बिना भी कल्पना से ही उसके आकार का साक्षात्कार कर सकते हैं, किन्तु कलाकार अपनी कृति के द्वारा भाव का संवेदन ही संप्रेषित करने को लक्षित करता है और स्वयं भी उस संवेदन का अनुभव करता है। कुछ उपन्यासकार लिखते समय अपने पात्रों के साथ हँसते-रोते हैं और दर्शक-पाठक तो हँसते-रोते हैं ही। निश्चय ही ये "उद्दीपन" सत्तया उत्पादक नहीं होकर कल्पना द्वारा स्वतंत्रतः आहूत ही होते हैं, किन्तु ऐसा दुःख-स्मृति में भी होता है। भट्टाचार्जी से अपने मृत पुत्र का चित्र बनाने का अनुरोध करने वाले माता-पिता वह चित्र इसी कारण बनवाना चाहते थे क्योंकि वे उस दुःख को अधिकाधिक बनाये रखना चाहते थे। वह दुःख उनके लिए काम्य और मूल्यवान् था। द्रष्टव्य है कि सब दुःख-स्मृतियों के साथ ऐसा नहीं होता। उदाहरणतः किसी आर्थिक हानि के दुःख को हम नहीं बनाये रखना चाहते। इस प्रकार हम कुछ दुःखों को मूल्यवान्

ग्रौर कुछ को मूल्य-हीन मानते हैं ग्रौर केवल मूल्यवान् दुःखों को ही बनाये रखना चाहते हैं। यह इसमे भी सिद्ध होता है कि काव्य ग्रौर जीवन दोनों में दुर्जन की हानि ग्रौर सज्जन के लाभ से सुख ग्रौर विपरीत से दुःख होता है। किन्तु तब भी दुःख तो दुःख ही होता है ग्रौर परिणामतः उसे अप्रिय ही होना चाहिए। तब वह क्यों प्रिय होता है ? इस का कारण यह कहा जा सकता है कि दुःख हृदय को गहराई से ग्रालोडित कर समृद्ध ग्रर्थ-राशि का प्रापक होता है। यह ग्रर्थ-राशि हृदय में निहित होने पर भी ग्रावृत रहती है और इस ग्रावरण का निरास चित्त को उसके ग्रपने सत्य में प्रतिष्ठित करता है।

द्रष्टव्य है कि दुःखात्मक कृतियां ग्रधिकांशतः कलाकार द्वारा मनुष्य की ग्रनृत या ग्रविद्या के सम्मुख विवशता की परिस्थिति के बोध से ही उत्पन्न होती हैं। रामायण और महाभारत ही नहीं ग्राज की सामाजिक याथार्थ्य की निरूपक कृतियां भी वैयक्तिक ग्रौर सामाजिक स्तर पर ग्रनृत ग्रौर ग्रघ की विजय के सम्मुख मनुष्य की विवशता को ही प्रदर्शित करती हैं। मनुष्य की यह विवशता सुखकर नहीं हो सकती। किन्तु कलाकार यह चित्रण इस विवशता के प्रदर्शन मात्र के लिए नहीं करता, वह अनृत के अनृतत्व, उसकी दुःखात्मकता ग्रौर कुरूपता के प्रदर्शन द्वारा ऋत को व्यंजित करता है। क्योंकि विवशता की इस परिस्थिति का वह विषयितया साक्षात्कारी होता है इसलिए वह इसका भोक्ता भी होता है ग्रौर दर्शक भी : भोक्तृता में दर्शक। यह दर्शन कलाकार और उसके श्रोता-पाठक-दर्शक को व्यंग्यतया ऋत का, चेतना की "शुक्रमकायमव्रणमस्नाविर शुद्धमपाप-विद्धम्" ग्रात्मसत्ता का आभास भी देता है। स्वभावतः यह ग्राभास आनन्दात्मक ही होता है, किन्तु यह सब दुःखात्मक स्थितियों ग्रौर उनके कलात्मक निरूपणों का व्यंग्य नहीं होता, जैसे इन्दुमती की मृत्यु पर ग्रज-विलाप के निरूपण में यह व्यंग्य नहीं कहा जा सकता, इसमें हृदय की वह ग्राद्य विरह-वेदना ही व्यंग्य होती है जो व्यक्ति-चेतना मात्र में स्मृति-रूपेण निहित रहती है। इसे ग्रविद्यावरण का किंचित् भंग होना भी कहा जा सकता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि इसमें कला का कोई वैशिष्ट्य नहीं है ग्रौर इस चित्त-स्थिति को आनन्दात्मक नहीं कह कर दुःखात्मक ही कहना उपयुक्त है, इसमें दुःख ही भोग्य होता है। कलाकार का वैशिष्ट्य इस दुःख का उसके ग्राकार में उद्ग्रहण कर उसके तत्त्व के अवगाहन ग्रौर ग्रर्थ की ग्रभिव्यक्ति में होता है। दूसरे शब्दों में, कला ग्रनुभवों का उनके ग्रर्थों में साक्षात्कार ग्रौर ग्रवगाहन करती है ग्रौर कृति के माध्यम से इन ग्रर्थों को अभिव्यक्ति देती है।

यहां यह स्पष्टीकरण स्थाने होगा कि विषयिता केवल भावनात्मक ही नहीं होती ग्रौर न कला ही केवल भावना के निरूपण तक सीमित होती है। कला

वास्तव में विषयिता को उसकी समग्रता में निरूपित करती है और स्वयं भावना भी चेतना के विचारात्मक और मूल्यात्मक आयामों से मिश्रित, नियुक्त और निर्दिष्ट आवेग ही होती है। यह भावना चेतना की जगत् के प्रति उसकी समग्रता में प्रतिक्रिया का अधिष्ठान होती है। यह विषयितया निरीक्ष्य होने पर अपने और जगत् के ऐसे अर्थों को व्यक्त करती है जो विषय-दृष्टि के लिए अगम्य होते हैं। अनुभव की व्यापकता, विचार की सामर्थ्य, नैतिक प्रतिबद्धता और मूल्य-दृष्टि की प्रखरता इस सब में चेतना विषय-वृत्तिक भी हो सकती है और विषयिवृत्तिक भी। विषयवृत्तिकता में चेतना विकल्पात्मक और विवेचनात्मक रूप से उपचरित होती है और वस्तुओं का निरीक्ष्य रूप में निर्धारण करती है। इस वृत्ति में भावना विषय के साथ अव्यवहितत्व प्राप्त करने और उसके अन्तःसाक्षात्कार में उपयोगी होती है किन्तु उसके विवेचन और निर्धारण में यह अनिवार्य नहीं होती। विषयिवृत्तिकता में चेतना वस्तुओं का आत्म-बोध और आत्मक्रियान्वयन में धारण करती है और भावना उसकी दृष्टि या ग्राहिका बनती है। उदाहरणतः वचन-पालन कर्त्तव्य है या नहीं यह विषय-वृत्तिकता में प्रत्ययात्मक रूप से उद्ग्राह्य (एब्स्ट्रैक्टिबल), व्यावर्त्तनात्मक रूप से निर्धार्य और निर्व्यक्तिक रूप से अपने तत्त्व में कल्प्य होता है। किन्तु विषयिता में यह चरित-कल्पना द्वारा प्रस्तुत्य और भावना द्वारा साक्षात्कार्य होता है। द्रष्टव्य है कि भावना इसमें चित्तवृत्ति-रूप में वांछनीय नहीं होती बल्कि आकार-रूप में ही वांछनीय होती है, किन्तु ये आकार भावना के भोग के भीतर से ही उद्गत होते हैं। अब वचन-पालन की अकर्त्तव्यता विषय-रूपेण सिद्धान्त के माध्यम से उपस्थाप्य होती है जबकि कला में यह कर्म में निर्वाह की सन्दर्भ-कल्पना के द्वारा, जैसे दशरथ और भीष्म के वचन-पालन के चित्रण के द्वारा, उद्भाव्य होती है।

अवगाह्य तत्त्व और अन्वेष्य सत्य क्या है यह इन दोनों वृत्तियों में चेतना की भूमि पर निर्भर करता है। हम ऐन्द्रिक लौकिक भूमि पर भी हो सकते हैं मनोमय, विज्ञानमय या आनंदमय भूमि पर भी। इन भूमियों के अनुसार ही हमारे तत्त्व और बोध स्थिर होते हैं। वास्तव में विज्ञानमय, विशेषतः आनन्दमय भूमियों पर विषय-वृत्तिकता और विषयिवृत्तिकता का भेद क्षीणतर होता जाता है। इन भूमियों पर साक्षात्कारात्मक प्रतिभा विषयों के अन्तस् का आत्मानुभूति में साक्षात्कार करती है। वेदों और उपनिषदों के अनेक मंत्र, सत-काव्य, महान् चित्रकारों के चित्र इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। संगीत में "नाद-ब्रह्म" पद अनुभूति में तत्त्व-साक्षात्कार के इसी तथ्य का वाचक है।

धर्म-संकट

मुकुन्द लाठ

"धर्म-संकट" शब्द का अनुवाद अकसर "मॉरल डिलेमा" किया जाता है। ऐसा नहीं कहूंगा कि यह अर्थ ठीक नहीं है। पर एक बात कहूंगा। "धर्म" का अर्थ, मैं समझता हूँ, "मॉरल" से मेल खाते हुए भी "मॉरल" से भिन्न है : दोनों के आकलन के क्षेत्र कुछ सम होते हुए भी विषम हैं। धर्म का अर्थ मॉरल से अधिक व्यापक है। उसके अर्थ का प्रसार मॉरल से बढ़ कर ही नहीं हट कर भी है—धर्म जिन-जिन दिशाओं की ओर बढ़ता है उन सबको मॉरल का पसारा नहीं समेट सकता।

एक बात और है। धर्म और मॉरल जैसी धारणायें—और सच पूछिये तो चिन्तन की हर धारणा—परम्परा विशेष में आंकी, परखी, उभारी जाती है। परंपरा विशेष के प्रश्न, युक्तियां, विवाद, अनुभव, दृष्टियां, इनके परस्पर-भाव—ये धारणाओं को रूप देते हैं और रूप लेकर भी धारणायें स्थिर नहीं रहतीं—स्थिर हो जायें तो शायद चिन्तन के काम की ही न रहें। धारणाओं में रूपान्तर भी आते हैं, ये बहुरूपा भी होती चलती हैं।

पर यह सारा व्यापार परम्परा विशेष के प्रवाह में रह कर ही सम्पन्न होता है। सम्पन्न ही नहीं सार्थक भी परम्परा विशेष के भीतर ही होता है। मनुष्य के अन्य कर्मों की तरह चिन्तन भी परम्परा-कर्म है, परम्परा-साध्य है। भिन्न होना, बहुरूप होना, परम्परा का स्वभाव-धर्म है। आपत्ति हो सकती है, चिन्तन समष्टि-विशेष का नहीं सार्वजनिक धर्म है और कोई धारणा अगर सचमुच चिन्तन का प्राण हो तो वह परंपरा-से-बंधी नहीं कहला सकती। जहाँ तक वह परंपरा-विशेष तक सीमित है वहाँ तक वह चिन्तन के सर्व-सामान्य-भाव से बाहर भी है। इस बात से इनकार नहीं करते हुए भी दो-एक बातों की ओर ध्यान दिलाता हूं। मानव-जीवन और मानव-साधना में विशेष और सामान्य में एक विलक्षण-सा युगनद्ध भाव होता है जिसमें एक गहरे विरोध का संकेत भी देखा जा सकता है। कला में विरोध का ऐसा आभास कुछ अनायास ही दिख जाता है। कला सामान्य को विशेष में ही साधती है। कला की परंपरायें भी स्पष्ट ही विशेष होती हैं। जिसके संस्कार एक परंपरा में दीक्षित हों उसके लिये दूसरी परंपरा में रसबोध के सामान्य तक पहुँचना सहृदय भाव की एक साधना बन जा सकती है। संगीत जैसी कला में यह बात बिलकुल उजागर सी है : पश्चिम

के संगीत में प्रवेश हमारे लिये दूभर सा होता है। साधना चाहता है। इसलिये कि उसका एक नितान्त विशेष रूप है। पर उसमें प्रवेश दुःसाध्य भले हो, असाध्य नहीं है। प्रवेश हो जाये तो उसमें रसबोध का अपनी तरह का सामान्य खुल जाता है। संगीत का विशेष पनपता-बढ़ता इसलिये है कि स्वर और स्वर के संबंध, जिनसे संगीत बनता है उनकी उधेड़बुन, हर परंपरा की अपनी होती है।

विचार में भी यह बात होती है। परंपरा के प्रत्यय और उनके आपस में बुने गये संबंध हर विचार परंपरा के अपने होते हैं। उनकी उधेड़बुन में—या चाहे तो कोई अच्छा शब्द लें, इसे ऊहापोह कह लें—इस ऊहापोह में, इसके विस्तार में, वैसा ही विशेष और सामान्य का मेल होता है जैसा संगीत की परंपरा में। वहाँ अगर हम सामान्य की मांग कुछ ज़िद के साथ करते हैं तो इसमें एक कारण स्पष्ट है : कला में विशेष की गरिमा अनुभव-सिद्ध है जब कि विचार का क्षेत्र विशेष से ऊपर उठ कर ही बनता दीखता है। पर भूलना नहीं चाहिये कि जैसे संगीत स्वरों के संबंध से बनता है वैसे ही विचार धारणाओं के—प्रत्ययों के—संबंध से बनता है। प्रत्ययों के स्वरूप और संबंधों में परंपरा-भेद हो सकता है। बल्कि होता ही है। प्रत्यय भाषा में होते हैं और इसलिये उनका एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद संभव है। पर "धर्म" जैसे शब्दों में यह बात सामने आ जाती है कि अनुवाद की संभावना सीमित है। विशेष कर जब ऐसी भाषा में अनुवाद हो जिसकी विचार-परंपरा की जड़ें कहीं और हैं और जिसके बरगद का अपना स्वतन्त्र विस्तार है। अनुवाद का किसी दूर तक हो सकना कभी-कभी किसी धारणा को स्वरूप-च्युत ही नहीं विकृत कर देने का भी हेतु हो जाता है। "धर्म" के साथ ऐसा ही हुआ है : इसे "रिलिजन" का पर्याय माना जाने लगा है। "रिलिजन" का क्या अनुवाद हो यह अपने-आप में समस्या है शायद "मज़हब" ठीक हो—और कहना न होगा कि अनुवाद की यह समस्या धारणाओं के परंपरा की डोर से बँधे होने की ही है। हमारे यहां इस्लाम या ईसाई जैसा कोई "मज़हब" नहीं पनपा। यह नहीं कि 'धर्म' अनुभव के जिस क्षेत्र से संबंध रखता है वह "रिलिजन" के लिये बिलकुल बेगाना है या "रिलिजन" की दिशा में हमारे यहाँ बढ़ा ही नहीं गया। पर "धर्म" की कहानी और रहनी के अनुभव ने हमारे यहां ठीक वैसी दिशा नहीं ली जो यहूदी परंपराओं के प्रभाव में "रिलिजन" और "महज़ब" ने ली। साथ ही "धर्म" ने कुछ ऐसी दिशायें भी लीं जिन्हें पश्चिम में "रिलिजन" से भिन्न रखा गया है : जैसे "मॉरेलिटी"। "धर्म" के अर्थ की कुछ और भी दिशायें रही हैं जो इस धारणा को एक अपना विशिष्ट रूप देती हैं। आशा करता हूं इस वैशिष्ट्य की झलक कुछ आगे की बातों में आती रहेगी।

विचार में सामान्य की मांग के पीछे आजकल एक बड़ा विचित्र सा विशेष-धर्मी आग्रह दिखाई देता है जो हमारे लिये इतना सहज हो गया है कि विचित्र नहीं लगता। इस आग्रह को दुराग्रह ही कहना चाहिये, पर उस आग्रह के हम स्वयं भी ऐसे आग्रही बन बैठे हैं कि ऐसा कहते हिचकिचाते हैं। आज एक विशेष परंपरा अपने विशेष रूपों को ही सामान्य का एकमात्र स्वरूप बता रही है। हम उस परंपरा से अभिभूत ही नहीं, उसके संस्कारों में रँग चुके हैं : इस दावे के हम भी भागीदार हैं। पश्चिम की परंपरा आज एकमात्र सार्वभौम परंपरा होने का दम भरती है। कहती है कि उसने जो विचार की भाषा साधी है वह विचारलोक की देवभाषा है, संस्कृत है, दूसरी भाषायें अपभ्रंश हैं। उनमें कही बात परिनिष्ठित तभी हो सकती है जब वे पश्चिम की "संस्कृत" का रूप लें।

अभी पिछले दिनों मैं **फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट** नाम की मशहूर पत्रिका में, जो हवाई, अमरीका, से निकलती है, एक अमरीकन "भारतविद्" और दर्शनाचार्य का लिखा रिव्यू पढ़ रहा था। प्रोफेसर शिवजीवन भट्टाचार्य ने प्रसिद्ध नव्य-नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के विख्यात पर दुरूह ग्रन्थ, **विषयतावाद** पर एक पुस्तक लिखी है। गदाधर के ग्रन्थ का अंग्रेज़ी में चलती हुई दार्शनिक भाषा में अनुवाद किया है। उस पर एक आधुनिक टीका लिखी है और उसके विषय की विशद विवेचना करते हुए गदाधर के विचारों को पश्चिम के कुछ अर्वाचीन विचारकों के साथ रख कर देखा है। गदाधर का वैशिष्ट्य दिखाया है। प्रकट है कि पश्चिम के न्याय या तर्कमार्ग में कुछ ऐसे हाल में उठे प्रश्न हैं जिन पर नव्य-नैयायिकों ने पहले से ही अपना-सा विचार किया था और इन विचारों में सत्रहवीं सदी के गदाधर का भी अपना सार्थक मत है। शिवजीवन बाबू की किताब की तारीफ में समालोचक ने एक अजीब सी बात कही है जो आपके सामने रखना चाहता हूं। कहते हैं कि शिवजीवन बाबू ने आख़िरकार नव्य-न्याय को ऐसे रूप में हमारे आगे रक्खा है कि वह अब एक परंपरा विशेष के बंधन से निकल कर फिलॉसफी के "मेनस्ट्रीम" में स्थान पा सकता है,, "ग्लोबल"—सार्वभौम"—हो सकता है। अमरीकन आचार्य का आशय स्पष्ट है : आज सार्वभौम—दूसरे शब्दों में 'सामान्य"—वही है जो पश्चिम की विशेष परंपरा का अंग हो, उसकी सार्वजनिक "संस्कृत" में कहा गया हो, उसके विशेष संवाद-विवाद का हिस्सा बन सके।

यहाँ "ग्लोबल मेनस्ट्रीम" की धारणा पर कुछ विचार कीजिये। कहना न होगा कि यह धारणा दर्शन से नहीं इतिहास से संबंध रखती है। पश्चिम में इतिहास की एक प्रबल प्राचीन दृष्टि रही है जो मानव मात्र के इतिहास में एक प्रधान धारा का प्रवाह देखती रही है। यही दृष्टि आज पश्चिम की परंपरा में जो कुछ

सार्थक, उचित, प्रामाणिक है उसकी एकमात्र कसौटी का आविष्कार करती है। उसे "ग्लोबल मेनस्ट्रीम" बताती है। इसमें शक नहीं कि ऐसी बातें सभी परंपराओं में होती रही हैं। इन बातों को अहंकार-निष्ठ मोह-दृष्टि का सहज प्रपंच कह कर टाल दिया जाता है। पर पश्चिम अपने दावे के पीछे विज्ञान का विवेक देखता है, मोह नहीं। पश्चिम ने जब से साम्राज्य-लाभ किया है और साइंस के बल पर ऐश्वर्य कमाना शुरू किया है तब से वहां जगत् को आंकने-समझने के लिये इतिहास के महत्त्व को भी चरम शिखर पर पहुँचा देने की प्रवृत्ति रही है। साथ ही इतिहास की उस दृष्टि का महत्त्व भी आज साइंस का भेस पहन कर आता है जो दृष्टि पश्चिम को "मेनस्ट्रीम" ठहराती है। यों तो अपनी नदी को कौन गंगा नहीं कहता, पर पश्चिम की गंगा इस दृष्टि के अनुसार कहने की नहीं वास्तव की गंगा है। विभिन्न संस्कृतियों के नदी-नालों से अलग इतिहास की एक प्रमुख धारा है। अन्य धारायें इसी में समा कर इतिहास के सार्थक प्रवाह में प्रवेश पा सकती हैं: आज के "आधुनिक" युग में पश्चिम अपनी बुद्धि और शक्ति के बल से साक्षात् ही "ग्लोबल' हो गया है—आज तो यह बात सत्य है ही, चाहे पहले न भी रही हो। कोई शक्ति और ऐश्वर्य के मद में ऐसा सोचे-कहे तो अचंभे की बात नहीं है, पर यह भावना की नहीं ज्ञान की बात मानी जाती है।

कहना न होगा कि इस दृष्टि का विरोध भी हुआ है। इसमें जो दंभ की बू है उस की निंदा की गई है। पर बात बार-बार उठ उठ कर आती ही रहती है। पश्चिम में और पश्चिम से हावी हमारे मन में यह बात कहीं गहरी समा चुकी है। तमाशे की बात यह है कि दर्शन के वे आचार्य, जो अपनी सत्य-संबंधी विद्या, अर्थात् दर्शन में आज कहीं सत्य का संकेत ढूंढ नहीं पाते हैं वे भी इतिहास जैसी, दर्शन से कहीं अधिक संशय-के-सौ-जाल-में-घिरी, सहज ही अनेकान्त विद्या में अनायास ही सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं। उनके लिये "सत्यमेव जयते" जैसी बात तो मात्र आस्था और श्रद्धा की एक संदिग्ध सी बात है पर "यज्जयते तत्सत्यम्": जो जीतता है वह सत्य है: यह बात संदेह से अछूती, अपौरुषेय श्रुति हो गई है। मैंने एक ही आचार्य का यहां उदाहरण दिया है। पर इतिहास के बल पर पश्चिम की मेनस्ट्रीम "संस्कृत" को दर्शनलोक की सर्वसिद्ध भाषा मानना आज देश-विदेश के आचार्यों के चिन्तन का सिद्धांत है। दूसरे सिद्धान्त मानें या न मानें वे इसे मानते हैं। पहले यह स्वर था कि भारत में दर्शन है ही नहीं। आज उसी स्वर का लगाव कुछ बदल गया है। कहते हैं कि भारतीय दर्शन मेनस्ट्रीम के बाहर है। विचार की एक "विशेष" परंपरा है जो "सामान्य" बनने के लिये पश्चिम का पारस-स्पर्श चाहती है।

हम भी इस दृष्टि के शिकार हैं, चाहे इसका तिरस्कार करें। और विचार की किसी मुद्रा में इससे इनकार भी इससे बँधा है। इसलिये भी कि विचार की हमारी अपनी भाषा नहीं बन पाई है। हम अंग्रेज़ी के अनुवाद-जीवी हैं। पर अगर सामान्य की सृष्टि परंपरा मात्र का धर्म है तो हो सकता है कि अपनी परंपरा के विशेष का कुछ मंथन करें तो सामान्य के किसी सार्थक रूप को उभार सकें जो हमारा अपना भी हो।

फिर से धर्म-संकट पर आता हूं। परंपरा में "धर्म" शब्द की व्याप्ति और उसकी विशेष ध्वनि को पकड़ने के लिये हम यहां उन धारणाओं की ओर देख सकते हैं जिनसे 'धर्म-संकट' में प्रयुक्त 'धर्म' को जोड़ा जाता है और अलग किया जाता है। यों 'धर्म' के अपोह का मार्ग कुछ आँकें तो शायद अर्थ की गति को कुछ भाँप सकेंगे। इस शब्द का एक प्रयोग हमने अभी पिछले ही पैराग्राफ में देखा। "परंपरा का धर्म", या शब्दों को यों का यों उद्धृत करें तो "परंपरा मात्र का धर्म"। इस प्रयोग में "धर्म" का अर्थ "धर्म-संकट" के "धर्म" से बिलकुल अलग-सा लगता है। परंपरा में कई "धर्म-संकट" उठे हैं, उठते हैं और आगे उठेंगे ही। यों हम कह सकते हैं कि बहुरूप होने की तरह ही धर्म-संकट-मय होना भी परंपरा का स्वभाव-धर्म है। या "परंपरा का स्वभाव-धर्म" नहीं कह कर "परंपरा का धर्म" भी कह सकते हैं, इससे अर्थ-भेद नहीं होगा। "स्वभाव-धर्म" कहने का तात्पर्य यही होता है कि जिस धर्म की हम बात कर रहे हैं उसको वस्तु के स्वरूप का ही अभिन्न अंग बता रहे हैं—कह रहे हैं कि वह वस्तु में निहित है, उसके होने का अभिन्न स्पन्द। यह स्पन्द वस्तु का व्यापार है। "परंपरा का धर्म" परंपरा का व्यापार है। ऐसा "व्यापार" जो उसके स्वभाव से उद्भूत होता है और स्वभाव को स्वतः आविर्भूत करता है। "व्यापार" नहीं कह कर 'क्रिया" भी कह सकते हैं। क्रिया के ही अर्थ में हम "धर्म" के ऐसे प्रयोग करते हैं जैसे, "नीचे की ओर बहना पानी का धर्म है" या "मृत्यु प्राणी मात्र का धर्म है"। मरना क्रिया है या नहीं यह प्रश्न उठ सकता है। मरना प्राण की क्रिया का अवसान है और क्या क्रिया के अवसान को क्रिया कहा जा सकता है, यह विवादास्पद हो सकता है। पर क्रिया के अवसान का भी क्रिया से संबंध होता ही है। "मरना प्राणी मात्र की गति है" ऐसा भी कह सकते थे।

पर जो भी हो, "धर्म" शब्द के इस अर्थ में "धर्म-संकट" की बात निरर्थक नहीं तो अटपटी, बेतुकी सी तो लगती ही है। "धर्म-संकट" की बात को वैसी किसी क्रिया या व्यापार की बात में नहीं ढाला जा सकता जिस अर्थ में पानी का, या प्राण का, या परंपरा जैसी वस्तुओं का धर्म होता है। धर्म-संकट हमारे बोध को, चेतना को होता है, बुद्धि या विवेक को होता है। इसे स्वभाव-धर्म कहना हो तो चेतन वस्तु

का स्वभाव-धर्म कह सकते हैं, मनुष्य जैसी ऐसी चेतन "वस्तु" का जिसे वस्तु कहने में ही संकोच होता है। धर्म-संकट ऐसे "जीव" का स्वभाव-धर्म है जिसमें विवेक होता है, जो द्रष्टा-भाव में स्थित हो सकता है, स्वसंवेद से अपने-आप को देख-परख सकता है। ऐसे जीव के ऐसे व्यापार को हम 'आचरण' भी कहते हैं। वस्तुओं की तरह जीव की एक आकृति, एक कलेवर होता है जिसके कई व्यापार होते हैं। इन्हीं में आचरण एक 'व्यापार" है। आचरण जैसा व्यापार मनुष्य का स्वभाव-धर्म है, बल्कि उसके स्वभाव-धर्म का व्यावर्तक लक्षण है। अन्य वस्तुओं के स्वभाव-धर्म से उसे पृथक् करता है। आचरण स्वतन्त्र व्यापार है, जीव के प्रयत्न से होता है, उसका स्वरूप है कि वह कुछ और प्रकार का भी हो सकता था। यह अन्यथा-करणीय व्यापार है। यह किसी जड़ वस्तु के निसर्ग, प्रकृति-सिद्ध व्यापार या क्रिया की बात नहीं है। कर्म की बात है, जिसका कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। धर्म-सकट कर्म में होता है, क्रिया में नहीं।

कर्म और क्रिया का अंतर और तरह से भी किया जा सकता है। अभी हमने जड़ वस्तु के 'स्वभाव-धर्म" के लिये "प्रकृति-सिद्ध" शब्द सामने रक्खा। यहां "सिद्ध" शब्द काम का है। क्रिया और कर्म के अंतर का एक सूत्र इसमें ढूंढा जा सकता है—इस रास्ते विचार किया भी गया है। क्रिया सिद्ध-धर्म है, यह वस्तु के स्वभाव में सहज समाविष्ट होती है। उसके होने के लिये कुछ करना नहीं होता। जबकि कर्म में धर्म-संकट की बात उठती ही इसलिये है कि कर्म साध्य होता है। हमारे किये ही होता है। सहज ही प्रश्न जागता है कि मैं क्या करूं? क्या करना उचित होगा? कर्म से धर्म ही नहीं अधर्म भी किया जा सकता है। क्रिया में अधर्म की बात ही वृथा है।

पर हमने अभी जो कर्म से धर्म या अधर्म साधने की बात की तो उसे कर्म से अलग किया। जड़ वस्तु के व्यापार-धर्म से मनुष्य जैसे स्वचेतन जीव के 'व्यापार' धर्म को अलग करने के लिये हमने उसे क्रिया न कह कर कर्म कहा। तात्पर्य यही ठहरा कि कर्म को मनुष्य का धर्म बतलाया। पर अब यह कहा जा रहा है कि धर्म कर्म नहीं, कर्म द्वारा साध्य होता है। क्या अंतर है धर्म और कर्म में? इस प्रश्न को यों परंपरा में उठाया गया है या नहीं, नहीं जानता। पर इस प्रश्न के सहारे हम अपनी तरह से परंपरा में कुछ पैठ पा सकते हैं। मनुष्य का कर्म करने में समर्थ होना उसका स्वभाव-धर्म है। और इस अर्थ में सिद्ध धर्म है। पर जड़ वस्तु के "सिद्ध" स्वभाव-धर्म से मनुष्य के इस "सिद्ध" स्वभाव-धर्म में एक मर्म का भेद है। मनुष्य का कर्म कर पाना उसका सिद्ध स्वभाव-धर्म है। पर यही धर्म वह प्रश्न भी जगाता है कि कर्म क्या हो, कर्म का औचित्य क्या है? इतिकर्त्तव्यता क्या है? इस औचित्य और इतिकर्त्तव्यता को भी धर्म कहा गया है। क्योंकि इनके

बिना कर्म को कर्म ही नहीं कह सकते । धर्म की तरह कर्म का स्वरूप ऐसा है कि वह सिद्ध ही नहीं साध्य भी होता है । उसके सिद्ध होने का अर्थ ही यह है कि वह साध्य होता है । यहां और भी प्रश्न उठ सकते हैं । आगे के विवेचन में, आशा करता हूं, कुछ प्रश्न खुलेंगे, बात बढ़ेगी ।

धर्म में सिद्ध और साध्य का यह अविना-भाव या युगनद्ध-भाव क्रिया और कर्म के अंतर का मर्म कहा जा सकता है । अंतर यों भी मार्मिक है क्योंकि यह हमारे जगत्-बोध और आत्म-बोध के मर्म में स्थित है । मनुष्य को मनुष्येतर से अलग करता है । ग्रीस में अगर मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण रीज़न या बुद्धि किया गया है तो हम कह सकते हैं कि भारत की मनीषा के लिये मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म है : मनुष्य वह है जो धर्म साधता है । शेष जगत् के लिये धर्म किसी भी तरह की साधना नहीं होता ।

साध्य के अर्थ में धर्म का लक्षण यों किया गया है : किं मया कर्त्तव्यम् ?—मैं क्या करूं ?–इस प्रश्न का उत्तर है "धर्म" । कर्म का औचित्य उसकी इतिकर्त्तव्यता बताता है । यहां एक बात और भी जोड़ दूं । धर्म "मैं क्या करूं" के प्रश्न का ही नहीं, "हम क्या करें" के प्रश्न का भी उत्तर ढूंढता है । व्यष्टि का ही नहीं समष्टि का भी धर्म होता है और दोनों में अंतर भी होते हैं, सम्बन्ध भी । समाज के कर्म का औचित्य—लोकयात्रा, व्यवहार का औचित्य—यह भी धर्म का ही प्रश्न है । बल्कि धर्मसूत्रों में, स्मृति, पुराणों में, जिस अर्थ में "धर्म" आया है, उसमें धर्म प्रधानतः लोकयात्रा और व्यवहार का ही धर्म है । व्यष्टि को वहां समष्टि में रखकर ही देखा गया है । स्मृति-धर्म का एक प्रमुख अंग है संस्कार । संस्कार की धरती के बिना मनुष्य मनुष्य ही नहीं हो सकता, प्राणी मात्र रह जाता है । धर्म क्या होना चाहिये यह प्रश्न ही उसके लिये नहीं उठता । और संस्कार मनुष्य को समाज में रह कर ही मिलता है । संस्कार पहले हमें दूसरे देते हैं फिर चाहे हम अपने-आप को भी संस्कृत बनाने की साधना करते हों । समाज के बिना संस्कार की बात ही वृथा है । एक और पैठ का प्रश्न जो धर्म के विषय में उठा है —या स्पष्ट ही ऊह्य रहा है—वह धर्म को एक नहीं अनेक मान कर उठा है । "धर्म क्या है" के साथ ही हम पूछते हैं, "धर्म क्या क्या है" ? धर्म अगर मनुष्य का लक्षण है तो प्रश्न स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य के कर्म का क्षेत्र एक नहीं अनेक हैं । अभी हमने संस्कार की बात की । संस्कार क्या हों, क्या संस्कार उचित हैं ? दिये जाने चाहियें ? ये प्रश्न ही सस्कार को धर्म की कोटि में रखते हैं । पर यह भी स्पष्ट है कि संस्कार धर्म का सर्वस्व नहीं हो सकता । संस्कार तो एक तरह से धर्म की पहल है । संस्कार की धरती पर खड़ा होने के बाद ही मनुष्य स्वतन्त्र हो कर पूछता है कि वह क्या करे ? फिर इतिकर्त्तव्यता के दूसरे क्षेत्र स्वतः आगे आ

जाते हैं। राज्य कैसे चले? यह राजधर्म का प्रश्न है, कानून क्या हो? यह व्यवहार-धर्म की बात है। फिर प्रश्न उठ सकता है, क्या राजधर्म और व्यवहारधर्म का एक ही आधार नहीं है? इन धर्मों में भेद है तो क्या है? राजधर्म और राजनीति कर्म के एक ही क्षेत्र से संबद्ध लगते हैं। नीति और धर्म में क्या भेद है इन प्रश्नों के उत्तर का हम परंपरा में, और अपने चिंतन में, उत्तर ढूंढ सकते हैं। पर ध्यान देने की बात यह भी है कि ये प्रश्न उठते इसलिये हैं कि "धर्म" पर जो विचार हमारे यहां हो चुका है उसका अपना एक विशेष विस्तार है और उसमें उठाये गये प्रश्न एक विशेष दिशा की ओर अनायास मुड़ते हैं। आज "सेक्यूलर" के अनुवाद में जो शब्द चल पड़ा है, "धर्म-निरपेक्ष", वह इस परिप्रेक्ष्य में विचित्र-सा लगता है। मनुष्य का लक्षण ही अगर धर्मशील होना है—जैसा कि हमारे चिन्तन में उभर कर आता है—तो मनुष्य धर्म-निरपेक्ष नहीं हो सकता; हां, वह धर्म के अनैक्य की बात कर सकता है जैसी कि की गई है। "सेक्यूलर" शब्द कर्म के किसी ऐसे क्षेत्र की ओर संकेत नहीं करता जो "धर्म" की कोटि से बाहर है—ऐसा हम तभी समझ सकते हैं अगर "धर्म" का अर्थ "रिलिजन" लें। हमारी विचार-परंपरा में ढाल कर "सेक्यूलर" को समझना चाहें तो जिज्ञासा होगी कि सेक्यूलर धर्म के किस विशेष क्षेत्र की ओर इंगित करता है? उसका विशेष लक्षण क्या है? अन्य धर्मों से उसका भेद क्या है? विशेषकर जिसे मोक्षधर्म कहा गया है या जिसे आगम-धर्म कह सकते हैं उससे सेक्यूलर का क्या अंतर है? आगम रिलिजन से लगती हुई सी बात करते हैं। और भी प्रश्न उठते हैं, जो मैं समझता हू उठाये भी जाने चाहियें: सेक्यूलर में क्या राजधर्म और व्यवहारधर्म जैसा कोई अंतर है या नहीं है? है तो उसका रूप क्या? आधार क्या? क्या धर्म का क्षेत्र द्विविध ही है? "रिलिजस"-धर्म और "सेक्यूलर"-धर्म ऐसा मानने की युक्ति क्या? क्या मोक्षधर्म रिलिजन में सना जाता है? मोक्षधर्म व्यक्ति का धर्म है पर रिलिजन को व्यक्ति का धर्म कैसे कह सकते हैं?—उसके कर्म समष्टि के लिये विहित होते हैं, तभी यह बात कही जाती है कि उसे व्यक्ति के लिये होना चाहिये। ऐसा वह है नहीं। एक उलझन और है। "सेक्यूलर" और "रिलिजस" धर्म क्या सचमुच धर्म के दो भिन्न क्षेत्र कहे भी जा सकते हैं? "सेक्यूलर" की बात "रिलिजस" के विरोध में उठी है। यह "रिलिजस" धर्म के सभी क्षेत्रों पर प्रभुत्व का दावा करता है। उसके विपरीत चलता हुआ "सेक्यूलर" भी वैसा ही दावा करता है। धर्म के स्वरूप को भिन्न बनाता है। उसका आधार ईश्वर के स्थान पर बुद्धि में ढूंढता है। पर दावा यही करता है कि मनुष्य की सारी इतिकर्त्तव्यता का वही आधार है। रिलिजन के किसी स्वतन्त्र क्षेत्र को वह छोड़ता भी है तो उसे भ्रांत मानता हुआ ही छोड़ता है। यह सचमुच की छूट नहीं है, न धर्म के अनेक होने का सच्चा स्वीकार है। और

भी प्रश्न उठ सकते हैं, पर मैंने संस्कारधर्म, राजधर्म, व्यवहारधर्म, मोक्षधर्म की बात की है। उसे कुछ आगे बढ़ाता हूं।

संस्कार, राज्य और व्यवहार, ये तो साफ ही समष्टि के धर्म हैं। क्या व्यष्टि का अपने प्रति कोई धर्म नहीं है? व्यष्टि अगर स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र होना ही अगर उसे धर्म के द्वार पर ला खड़ा करता है तो क्या धर्म उसे कर्त्तव्य के बंधन में बांध भी नहीं देता? धर्म स्वतन्त्र हो कर किया गया कर्म है, पर कर्म, चाहे जैसा भी कर्म हो, स्वतन्त्र-भाव की उन्मुक्त स्थिति नहीं है। वह कर्म से भी क्यों बंधा हो? कर्म हमारा स्वतन्त्र-भाव नहीं है, उससे चाहे सम्बद्ध हो, पर उससे इतर है। अपने स्वतन्त्र-भाव में यों स्थित हो जाना, जहां स्वातंत्र्य अपने हर इतर से मुक्त हो जाये—संस्कार से, समाज से, जगत् से, धर्म के सीमित स्वातन्त्र्य से भी निर्बंध हो जाये–क्या यह भी साध्य नहीं है? हमारे यहाँ यह भाव प्रबल रहा है, सर्वथा स्वतन्त्र हो जाने की साधना, अनुभूति, प्रखर रही है। इस चरम स्वतन्त्र भाव को, "मुक्ति" को, परम साध्य माना गया है। विभिन्न धर्मों को देखें तो उनमें एक सोपान दिखाई दे सकता है। संस्कार को हम स्वतन्त्र होने की यात्रा का "अथ" कह सकते हैं और मोक्ष को उसकी "इति"। संस्कार हमें मनुष्य के स्वभाव-धर्म में ला खड़ा कर स्वतन्त्र कर्म का अधिकारी बनाता है। "धर्म" के साध्य रूप का द्वार खोलता है, पथ प्रशस्त करता है। कर्म के कई मार्गों में हमें ले जाता है। स्वातन्त्र्य की गति अगर धर्म है तो उसकी स्थिति है मोक्ष। स्वातन्त्र्य का परम साध्य। इसे व्यक्ति की साधना माना गया है। और जहां तक यह साधना है, यह भी एक कर्म है, इसकी भी एक इतिकर्त्तव्यता है। इसी की चर्चा मोक्षधर्म में होती है। स्पष्ट ही राजधर्म आदि से यह भिन्न धर्म है। भिन्न धर्मों में इतिकर्त्तव्यता का भेद क्या है? औचित्य का भेद क्या? भेद का आधार क्या? ये प्रश्न उठते हैं। उठे भी हैं। नये प्रश्न भी उठाये जा सकते हैं—जैसे, धम-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो सकता है क्या? और अगर हां, तो सभी को "धर्म" कहने का क्या औचित्य होगा? धर्म के अनेक में किसी परम एक के आधार की जिज्ञासा के कारण ही "परम धर्म" की बात की गई है। पर यह भी कुतूहल की बात है कि महाभारत में जहां परम धर्म का प्रश्न एक परम प्रश्न बन कर आता है वह परम धर्म एक नहीं अनेक गिनाये गये हैं: अहिंसा, आनृशंस्य, आचार............। "धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" भी कहा गया है।

हमारे चिन्तन ने धर्म पर विचार के जो सूत्र उभार कर आगे बढ़ाये हैं उनको अब कुछ विस्तार से, कुछ इतिहास को भी सामने रखते हुए, आपके आगे रखने की चेष्टा करूंगा। या यों कहना ज़्यादा ठीक होगा कि इस विषय में विचार की जिन गतिविधियों को मैं सार्थक समझता हूं, जिनसे मेरे अपने विचार को उन्मेष

मिला है, उनको आपके भी आगे रखना चाहूंगा।

मैंने अब तक जो कहा उसमें यही ध्वनि है कि धर्म का द्वार स्वातन्त्र्य का द्वार है। हमारा स्वभाव-धर्म हमें स्वतन्त्र करता है और हम स्वतन्त्र होकर उस धर्म की साधना करते हैं जो कर्म का औचित्य है। पर धर्म क्या हमें सचमुच स्वतन्त्र करता है ? स्वतन्त्र होने की बात सुनने में तो भली लगती है पर क्या भारत में धर्म का काम बिलकुल उलटा नहीं रहा है ? क्या हमें बांध कर जकड़ देने का काम नहीं किया है धर्म ने ? उसने द्वार खोलने की जगह हमें द्वारहीन रूढ़ियों में कसने का काम किया है। हमारे यहां के विचार और कर्म में अगर "मैं क्या करूं और हम क्या करें ?" ये प्रश्न उठे भी हैं तो क्या इन्हें उठते ही चुप नहीं कर दिया जाता रहा है ? ये सिर उठा ही कहाँ पाते हैं ? धर्म हमारे यहां प्रश्न नहीं उत्तर जगाता है। प्रश्न केवल प्रश्न–से–अस्पृश्य उत्तर के प्रवचन का सहारा बन कर रह जाता है।

बात एक हद तक सही है। पर धर्म को प्रश्न की चोट से बचाने की प्रवृत्ति भारत की ही नहीं संस्कृति मात्र की एक प्रधान प्रवृत्ति है। इसके बिना व्यवहार का चलना ही बाधा की चपेट में फंस कर अचल हो जा सकता है। लोकयात्रा को कोई ऐसा आधार चाहिये जिसमें स्थायी भाव हो, रूढ़ि की रीढ़ हो, नहीं तो लोकयात्रा पंगु हो जायेगी। हर संस्कृति, हर व्यवस्था, इतिकर्त्तव्यता के एक ढांचे को, एक वलय को, संशय से परे हटा कर बुद्धि के निरन्तर ऊहापोह के वार से बचा लेना चाहती है। संस्कार का एक यह भी काम है। और इसीलिये धर्म को बुद्धि के प्रपंच से हटा कर किसी ऐसी प्रज्ञा में स्थापित कर देने की भी प्रवृत्ति सहज है जिस प्रज्ञा में धर्म के एक अटल, ध्रुव तत्त्व का प्रत्यक्ष होता है। इसी दृष्टि से ईश्वर को धर्म का प्रवक्ता बनाया जाता है : बाइबल जैसी आचारसंहिता का रचयिता। या वेद को धर्म का प्रमाण कहते हुए उसे किसी ऐसी "अपौरुषेय" वाक् में स्थिर कर दिया जाता है जो पुरुष मात्र के अज्ञान और अहंकार से, मोह से अछूती है—"पुरुष" से यहां तात्पर्य बुद्ध या महावीर जैसे "सिद्ध", पहुंचे हुए, पुरुषों से भी है, साथ ही ईश्वर से भी है जिसे "परम" पुरुष कहा जाता है। ये मनुष्य के सहज अनेकान्त से धर्म को बचा रखने के जाने-माने मार्ग हैं। इन्हीं मार्गों को आज रिलिजन के अर्थ में धर्म कहा जाता है। भारत में ऐसे एक नहीं अनेक मार्ग रहे हैं। रूढ़ि रही है, पर रूढ़ि में अनेक की स्वीकृति भी रही है। कहते हैं कि रीज़न से उपजे हुए धर्म, जैसे कि आज के सेक्यूलर कहलाने वाले धर्म हैं, ऐसे धर्म प्रश्न का द्वार खुला रखते हैं। पर सच पूछिये तो धर्म में प्रश्न के द्वार को बन्द किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि धर्म के स्वरूप में ही धर्म-संकट निहित है। धर्म-संकट की बात प्रश्न की तो बात

है ही। पर बुद्धि के प्रश्न से कहीं तीखा, कसैला प्रश्न होता है धर्म-संकट का प्रश्न। धर्म-संकट प्रश्न तो उठाता ही है पर और गहरे उतर जाता है। हमारे मर्म में दुविधा जगाता है। प्रश्न अगर केवल बुद्धि की पहेली होती तो उसे निरन्तर बूझते रहा जा सकता था। पर बात मनुष्य की सांस के साथ उलझी होती है।

हमारे स्वतन्त्र होने का अर्थ ही है साध्य का अनेकान्त होना, नहीं तो स्वातंत्र्य कैसा ? साध्य के अनेकांत में ही जिज्ञासा कचोटती है—धर्म क्या है ? उसका परम स्वरूप क्या है जो प्रश्न मे परे है ? एक और अनेक के इस विरोध से कोई छुटकारा नहीं। पर विरोध से छूटे बिना व्यवहार ही सम्भव नहीं। माना, धर्म का स्वरूप ही ऐसा है कि वह सदा साध्य ही रहता है, उसमें अन्यथा होने की संभावना बनी रहती है, यों वह बंध नहीं सकता, पर विडम्बना यह भी है कि किसी "सिद्ध" धर्म की धरती पर खड़े हुए बिना जीना ही संभव नहीं। धर्म के किसी सिद्ध रूप का आग्रह इसीलिये इतना तीव्र है। मनुष्य का होना ही इस पर निर्भर है।

यहां एक बड़ा संकट और भी है। एक उलझन है जो आज पश्चिम में एक नया और टेढ़ा सवाल—धर्म-जिज्ञासा की एक नई पकड़—कहा जाता है। भारत में बात मीमांसकों की "धर्म-जिज्ञासा" में बहुत पहले ही उठ चुकी है। हमने ऊपर कहा था कि धर्म को बुद्धि के घेरे से हटा कर उसे "अपौरुषेय" कहा गया है। धर्म का प्रमाण वेद हैं और वेद किसी "पुरुष" की रचना नहीं हैं। यह मीमांसकों का सिद्धांत है। पर मीमांसक इसके पक्ष में बुद्धि का भी सहारा लेते हैं। युक्ति-विचार से इसकी पुष्टि करते हैं। बुद्धि के बल पर ही धर्म को बुद्धि के ऊहापोह से परे रख देने की बात करता है मीमांसक। अपौरुषेय वेद को धर्म का प्रमाण बताने के लिये मीमांसा का एक गहरा तर्क है : मैं क्या करूं, मेरे लिये क्या करना उचित होगा ? इस प्रश्न का उत्तर बुद्धि के प्रमाणों से मिल ही नहीं सकता। बुद्धि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और उस पर आधारित अनुमान के आश्रय ले कर प्रमाण-अप्रमाण, सत्य-असत्य की बात करती है। वस्तु क्या है ? उसका स्वरूप, व्यापार, गुणधर्म क्या है ? वस्तुओं के संबंध क्या हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर साधती है। उसकी यह साधना वस्तु के स्वरूप को बना-बनाया, पहले से सिद्ध मान कर चलती है। वस्तु है। जैसी है वैसी ही है। उसके संबंध भी पूर्वसिद्ध हैं। बुद्धि का काम प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा उसके बने-बनाये रूप को परख लेना है। पर धर्म क्या है ? इसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा हो ही नहीं सकता। "क्या है", इस बात से "मैं क्या करूं", "क्या हो", इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता। उसके लिये कोई दूसरा प्रमाण चाहिये जो विधि-निषेध बतलाये। शब्द-मय हो। यह प्रमाण वेद है।

(शेष अगले अंक में)

नये संपादकों का स्वागत

इस अंक मे "उन्मीलन" संपादन के स्तर पर बहुत उत्कर्ष-लाभ कर रहा है। डा. मुकुन्द लाठ मेरे साथ संपादक के रूप में सहयोजित हो रहे हैं और संपादकीय सहयोगियों में श्री अशोक वाजपेयी सम्मिलित हो रहे हैं। डा. लाठ व्यवसाय से राजस्थान विश्वविद्यालय के "इतिहास तथा "प्राचीन भारतीय संस्कृति" विभाग में अध्यापक हैं किन्तु भारतीय संस्कृति के गंभीर और विचक्षण अध्येता होने के अतिरिक्त संगीत कला-विद् और संगीत-शास्त्रज्ञ, कवि और काव्यशास्त्र-विशारद, और दार्शनिक चिन्तक भी हैं। इन्होंने न केवल पंडित मनिराम और श्री रमेश चक्रवर्ती तथा पंडित जसराज के शिष्यत्व में संगीत सीखा बल्कि पंडित जसराज के साथ अनेक संगीत सभाओं में भाग भी लिया। संगीत के शास्त्रीय अध्ययन के लिए वे देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों तथा अन्य सस्थाओं में रहे और इस शास्त्र पर शास्त्रीय तथा दार्शनिक लेखन किया।

इन्होंने इंग्लिश में ऑनर्स, संस्कृत में एम. ए. और संगीत की एक प्राचीन पुस्तक **दत्तिलम्** पर पीएच. डी. किया जो **ए स्टडी ऑफ दत्तिलम्** नाम से प्रकाशित हुआ। **दत्तिलम्** का इन्होंने अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया। इसी प्रकार **दि हिन्दी पदावली ऑफ नामदेव** पुस्तक वीनांत कालवर्त (Winand M. Callewaert) के साथ लिखी और नामदेव के पदों का अनुवाद भी किया। प्राकृत में लिखित पुस्तकों **कल्पसूत्र** तथा **अर्धकथानक** के अंग्रेजी में अनुवाद किये। अभी गत वर्ष "वत्सल निधि" के आमंत्रण पर "हीरानंद वात्स्यायन व्याख्यान माला" के अंतर्गत तीन व्याख्यान दिये जो **संगीत और चिन्तन** नाम से पुस्तक रूप में शीघ्र प्रकाशित होने वाले हैं। उपर्युक्त सभी विषयों पर उनके अनेक लेख भी प्रकाशित हुए हैं। इतने समृद्ध व्यक्ति को संपादक के रूप में पाना उन्मीलन के लिए निश्चय ही उपकारक होगा।

श्री अशोक वाजपेयी भी कम समृद्ध व्यक्ति नहीं हैं। वे आजीविका से भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी होने पर भी हिन्दी के मूर्धन्य कवि और आलोचक है और 17 वर्ष तक **पूर्वग्रह** जैसी एक अत्यन्त उत्कृष्ट वैचारिक पत्रिका का संपादन कर अब उसी प्रकार की एक दूसरी पत्रिका **समास** का संपादन कर रहे हैं। इनके छः कविता-संग्रह और दो आलोचना-ग्रन्थ : **फिलहाल** और **कुछ पूर्वग्रह** तथा अनेक संपादित पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। किन्तु उनकी एक और कृति है जो उपर्युक्त कृतियों से प्रकारतः भिन्न किन्तु एक अत्यंत सबल, ओजस्वी

श्रौर सृजनात्मक कल्पना के धनी व्यक्तित्व की द्योतक है । वह है (था) भोपाल का **भारत भवन** । इस के सृजन में कृतिकार की विचार श्रौर कला के सभी श्रायामों के प्रति ग्रहणशीलता श्रौर संवेदनशीलता सहज ही देखी जा सकती है । संप्रति वाजपेयी जी भारत सरकार के संस्कृति विभाग में संयुक्त सचिव हैं ।

विषय-सूची

१. अशिषनंदी और उनका आतमीय शत्रु रमेशचंद्र शाह ७६
२. श्रुति और श्रुतिप्रामाण्य के प्रवाद हर्षनारायण ९९
३. बौद्ध दर्शन या तत्त्वमीमांसीय अणुवाद नारायण शास्त्री द्राविड़ ११३
४. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप यशदेव शल्य १२३
५. धर्म-संकट मुकुन्द लाठ १३३
नये संपादकों का स्वागत यशदेव शल्य १४५

वार्षिक शुल्क
निजी रु. 30/-
संस्था रु. 50/-

आजीवन शुल्क
निजी रु. 300/-
संस्था रु. 3000/-

दर्शन प्रतिष्ठान

पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-302015

यशदेव शल्य तथा मुकुन्द लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान के लिए संपादित तथा जेक प्रिंटर्स, पी-47, मधुवन पश्चिम–II, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर से मुद्रित ।